॥ श्रीः ॥

* विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला *

१७

साहित्य और सिद्धान्त

लेखक :

श्यामलाकान्त वर्मा एम० ए०

प्राध्यापक हिन्दी-विभाग

सतीशचन्द्र डिग्री कालेज, बलिया
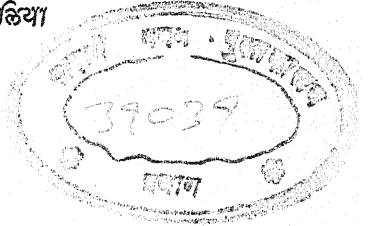
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

सं० २०१५]　　　　[ई० १९५८
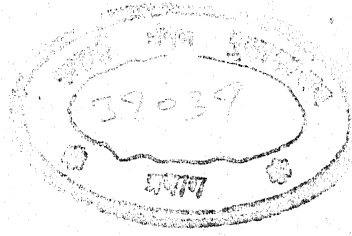
संतुलित विचारक और दार्शनिक

माननीय श्री संपूर्णानन्दजी

के

कर कमलों

में
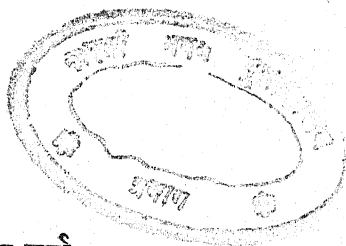
परिचय

डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा

रीडर हिन्दी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

सामान्यतः आलोचना के दो पक्ष होते हैं। एक में काव्य के मूल और आधारिक सिद्धान्तों की विवेचना ही लक्ष्य होती है। उसमें रचना-विधान के विविध अवयवों के संयोजन को दृष्टि में रखकर उनके शास्त्र-पक्ष के औचित्य की मीमांसा में समीक्षक अधिक रमता दिखाई पड़ेगा। आवश्यकतानुसार वह उदाहरण के लिए कहीं किसी की पंक्ति का उद्धरण भले ही उपस्थित कर दे, पर उसका उद्देश्य यह नहीं हो सकता कि वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक कृतिकारों की कृतियों का विश्लेषण करके कोई सैद्धान्तिक निष्कर्ष निकाले अथवा उसका उद्देश्य यह भी नहीं होना चाहिए कि किसी शास्त्रीय-सिद्धान्त की सिद्धि के लिए वह विभिन्न कवियों की उक्ति बटोरता फिरे। इस कार्य के ही अभिप्राय से समीक्षा के द्वितीय पक्ष का स्वरूप ग्रहण किया गया है। इसे व्यावहारिक समीक्षा कहते हैं। इस कोटि की रचना में सहृदय भावुक किसी साहित्यिक कृति की सम्पूर्ण आन्तरिक एवं वाह्य, स्थूल एवं सूक्ष्म, व्यवहारगत एवं चिन्तनगत सभी प्रकार की सुन्दरता को बड़े रस के साथ परखता-समझता है और अपनी अभिरुचि के अनुसार उसकी व्याख्या करता चलता है। ऐसी सुन्दरता वहन करने वाली पंक्तियों को वह निरन्तर साक्षीरूप में उपस्थित करता चलता है। यों तो चिन्तनशील समीक्षक भी कभी-कभी व्याख्या के प्रवाह में बहते हुए सैद्धान्तिक पक्ष की ओर घूम पड़ सकता है पर उसकी रुझान स्पष्ट सुन्दर और प्रिय की व्याख्या या विस्तार की ओर ही लगी दिखाई पड़ेगी। दूसरे ढङ्ग से इसी बात को यों कहा जा सकता है कि सिद्धान्त पक्ष और व्यवहार पक्ष के अतिरिक्त समीक्षा के दो और भी पक्ष होते हैं—बुद्धि पक्ष और हृदय पक्ष। किसी उत्तम कोटि के आलोचक में ऐसा भी हो सकता है कि दोनों पक्ष सम हों, पर सामान्यतः

किसी एक पक्ष का भी पण्डित समीक्षक सुविज्ञ और महत्वपूर्ण आलोचक माना जा सकता है।

प्रस्तुत रचना 'साहित्य और सिद्धान्त' के लेखक श्री श्यामला कान्त वर्मा का प्रयास उक्त दोनों कोटियों से पृथक् समझना चाहिए। इस पुस्तक में वर्मा जी ने साहित्य के विद्यार्थियों के लिए सामान्य और आरम्भिक परिचय उन सभी विषयों का कराया है जो आजकल के पाठ्यक्रम में लगे अध्येता के लिए आवश्यक हैं। आज जो जिस विषय का विद्यार्थी होता है उसको एक सुनिश्चित योजना-क्रम से अपने विषय का बोध प्राप्त करना रहता है। शिक्षा के विविध स्तर निर्धारित हैं और उनके अध्ययन-अध्यापन का क्रम भी बँधा-सा होता है। यह पुस्तक उन विद्यार्थियों के लिए विशेष उपादेय सिद्ध होगी जो अभी साहित्यालोचन के द्वार में प्रवेश कर रहे हैं। अर्थात् आधुनिक पाठ्यक्रम के अनुसार इण्टर और बी० ए० में पढ़ने वाले छात्रों को इससे अवश्य लाभ होगा। इससे साहित्य की जो विविध विधाएँ अथवा रचना-प्रकार हैं उनका सामान्य, सोदाहरण और ऐतिहासिकक्रम से परिचय कराया गया है। ऐसा करने में अन्य लेखकों के विचारों का भी पर्याप्त उल्लेख किया गया है। प्रत्येक प्रकार के सर्जन-कार्य और स्वरूप का आरम्भिक विवरण देकर उसके विकासक्रम का भी संक्षिप्त इतिहास लिख दिया गया है। विवरण भरने में वर्मा जी ने अपने पूर्व के विद्वानों द्वारा लिखित परिचयों को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार से यदि उनकी अशुद्धियों को भी ग्रहण किया हो तो कोई विशेष आश्चर्य नहीं समझना चाहिए। अपने ढंग से पुस्तक तैयार करने में उन्होंने श्रम किया है और बात को थोड़े में कह कर सफलता पाई है। कोमल मति विद्यार्थी इस पुस्तक से लाभ उठाएँगे—ऐसी आशा इन पंक्तियों के लेखक को हो रही है।
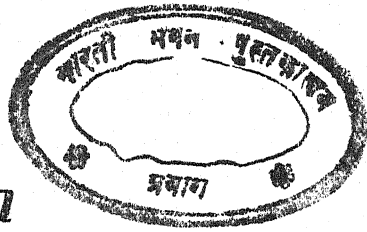
शुभाशंसा

प्रस्तुत रचना (साहित्य और सिद्धान्त) को मैंने आद्योपान्त पढ़ा। यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि हिन्दी-साहित्य एवं काव्य-शास्त्र की अत्यन्त उपयोगी एवं ज्ञातव्य बातोंका छात्रोपयोगी ढङ्ग से लेखक ने सङ्कलन किया है। काव्यशास्त्रके इन ज्ञातव्य विषयोंका ज्ञान साहित्यकी उच्च कक्षाके अध्ययन-कर्ता पूर्वस्नातक और स्नातक कक्षाओं के छात्रोंको अवश्य होना चाहिये। आजकल के छात्रोंको बहुधा इन विषयोंका ज्ञान अस्पष्ट या अपूर्ण रहता है।

लेखकने जिस स्पष्टता, संक्षेप, सरलता और सुबोध ढंग से शास्त्रीय विषयोंका विवरण दिया है, उसे पढ़ कर छात्रोंका साहित्यिक अध्ययन समीचीन होगा—ऐसी मेरी आशा है। प्रस्तुत रचना के लिए मैं लेखक को बधाई देता हूँ।

काशी
सं० २०१५

करुणापति त्रिपाठी
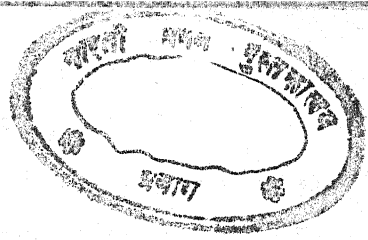
अपनी बात

संस्कृत-साहित्य के आचार्यों ने लक्षण-ग्रन्थों का प्रणयन करके साहित्य के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और पूर्ववर्ती परम्पराओं का युक्तियुक्त विश्लेषण प्रस्तुत किया। उनके लक्षण-ग्रन्थों की सहायता से लक्ष्य-ग्रन्थों के लेखकों ने अपनी वर्ण्य वस्तु का उचित रूप में प्रकाशन किया। टीकाकारों और समीक्षकों ने लक्षण-ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्तों के आधार पर समीक्षायें प्रस्तुत कीं। लक्षण-ग्रन्थों और लक्ष्य-ग्रन्थों के इस पारस्परिक सम्बन्ध ने उस काल के साहित्य को समृद्धिपूर्ण बनाया। पाश्चात्य साहित्यकारों ने भी लक्षण-ग्रन्थों के महत्त्व को स्वीकार किया है। इसीलिये 'पोयटिक्स' और 'रिटॉरिक्स' को वहाँ साहित्य के पाठ्य-क्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। हिन्दी-साहित्य के कर्ताओं ने सिद्धान्त-पक्ष पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया। सफल लेखकों ने अपनी कृतियों के परिष्कार के लिये संस्कृत के सिद्धान्त-ग्रन्थों का ही अध्ययन किया। हिन्दी में सिद्धान्त-ग्रन्थों या लक्षण-ग्रन्थों का अभाव था।

हिन्दी में संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों को आधार मानकर लक्षण-ग्रन्थ लिखने की परम्परा का आरम्भ भक्तिकाल के अन्तिम समय में हुआ। रीतिकाल में कई एक लक्षण-ग्रन्थ लिखे गये। लक्षण-ग्रन्थों पर विचार का यह क्रम आधुनिक काल के पूर्वार्ध तक चलता रहा। लाला भगवानदीन जैसों की कृतियों में यह परम्परा सुरक्षित दिखायी पड़ती है। सम्प्रति लक्षण-ग्रन्थों की ओर लेखक ध्यान नहीं देते। फलतः आज का साहित्यकार

साहित्य के सिद्धान्तों से अपरिचित रहता है। लक्षण-ग्रन्थों की ओर प्रवृत्ति का यह अभाव आज के साहित्य में अनेक दोषों का कारण बन गया है। बिना लक्षणों और सिद्धान्तों का बोध प्राप्त किये कृति के गुण-दोष को ठीक ठीक नहीं समझा जा सकता।

श्रेष्ठ साहित्यकार अपनी कृति में प्राच्य और पाश्चात्त्य दोनों दृष्टियों से सौन्दर्य का समन्वय करता है। मेरे इस कथन के प्रमाण हैं श्री जयशंकर-प्रसाद जी। उनके नाटकों पर प्राच्य सिद्धान्तों के साथ पाश्चात्त्य सिद्धान्तों का भी प्रभाव है। उनका काव्य भी इस प्रकार के प्रभावों से अछूता नहीं है। अतः उनको पूरी तरह से समझने के लिये इन दोनों ही दृष्टियों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। अब ऐसे सिद्धान्त-ग्रन्थ की आवश्यकता है जिसमें प्राच्य और पाश्चात्त्य दोनों ही पद्धतियों का समन्वयात्मक विवेचन हुआ हो।

साहित्य के क्षेत्र में सिद्धान्तसम्बन्धी पुस्तकों की कमी नहीं है। सिद्धान्तों पर विचार करते हुए अनेक मनीषियों ने पुस्तकों का प्रणयन किया है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के 'संक्षिप्त अलंकार मंजरी'; श्री गुलाब राय जी के 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप'; डा० नगेन्द्र के 'भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका'; श्री नन्ददुलारे बाजपेयी के 'नया साहित्य : नये प्रश्न'; श्री बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय साहित्य शास्त्र'; आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'रसमीमांसा' तथा 'चिन्तामणि'; श्री रामदहिन मिश्र के 'काव्य-विमर्श'; श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र के 'वाङ्मय-विमर्श' तथा 'काव्याङ्ग-कौमुदी'; श्री श्यामसुन्दर दास के 'साहित्यालोचन'; श्री

हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'साहित्य का साथी' में सिद्धान्त-सम्बन्धी बातें कही गयी हैं। संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों का भी अनुवाद हिन्दी में हुआ है। डा० भोलाशंकर व्यास, आचार्य विश्वेश्वर, डा० सत्यव्रत सिंह, श्री शालग्राम शास्त्री आदि के द्वारा संस्कृत के आचार्यों की प्रमुख कृतियों का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत हो चुका है। हिन्दी में ऐसी पुस्तकें अभी कम हैं जिनमें पूर्व और पश्चिम के साहित्य-चिन्तन का सुविचारित समन्वय हो। प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में मेरा ध्यान इसी लक्ष्य पर रहा है। साहित्य के मान्य सिद्धान्तों को मूल उद्धरणों के साथ सामने रखते हुए आज के सतर्क पाठक को साहित्य का सर्वाङ्गीण परिचय प्रदान करना ही इस पुस्तक का उद्देश्य है। यदि इस उद्देश्य की कुछ भी पूर्ति हुई तो मेरा श्रम सार्थक है।

इस पुस्तक को लिखने में श्री गुलाब राय, डा० नगेन्द्र, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० भोलाशंकर व्यास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, आचार्य विश्वेश्वर, डा० सत्यव्रत सिंह, श्री शालग्राम शास्त्री, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति लेखकों की कृतियों से स्थान-स्थान पर सहायता ली गयी है। लेखक सबके प्रति समान रूप से आभारी है। माननीय संपूर्णानन्द जी हिन्दी के मौलिक दार्शनिक विचारक हैं। मैंने उनकी कृतियों से पुष्कल प्रेरणा प्राप्त की है। अतः उनके प्रति आभार स्वीकार केवल परम्परा का पालन नहीं है। पुस्तक के लिखने में डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा एवं पं० करुणापति त्रिपाठी द्वारा प्राप्त होने वाले निर्देश बहुत अधिक सहायक हुए हैं। उनके निर्देश के अभाव में शायद

यह कार्य संपादित न हो पाता। भाई त्रिलोचन शास्त्री जी से प्राप्त सुझावों को मैं भूल नहीं सकता। जब कभी मुझे किसी कठिनाई का अनुभव हुआ है मैंने उसका निराकरण उनसे पाया है। श्री जितेन्द्रनाथ पाठक और भाई शम्भूनाथ मिश्र की आत्मीयता से मुझे बराबर बल मिला है। इस पुस्तक के प्रकाशन में भाई बिट्ठलदास जी तथा प्रेस के अन्य कर्मचारियों ने जिस रुचि और उत्साह का परिचय दिया है, उसके लिये लेखक आभारी है।

सी. २३।२७ कबीरचौरा
वाराणसी

श्यामलाकान्त

विषयानुक्रमणिका

४. कविता

५. कविता के भेद १

९. निबन्ध

१०. आलोचना

११. प्रकीर्णक

साहित्य और सिद्धान्त

१. साहित्य क्या है ?

परिचय :

साहित्य शब्द का जो अर्थ आज लिया जाता है वह सर्वथा नवीन है। अपने प्राचीन अर्थ में 'साहित्य' शब्द, उन सभी कृतियों का जिनमें शब्दों के साथ अर्थ की अभिव्यक्ति हो, बोध कराता था। अपने इसी गुण के कारण वह 'शब्दार्थौ सहितौ' कहलाता था।[1] साहित्य शब्द का अँग्रेजी रूप 'Literature' भी अपने पूर्व रूप में इसी अर्थ का द्योतक था और उसकी उत्पत्ति 'Letters' शब्द से हुई थी। Letter का अर्थ है अक्षर, और (Letters = अक्षरसमूह =) शब्द के साथ अर्थ का जुटा रहना स्वाभाविक ही है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'गिरा-अर्थ' को 'जल-बीचि-सम' कहकर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। अतः पाश्चात्य एवं प्राच्य दोनों ही मतों के आधार पर साहित्य के मूल अर्थ में वे सभी रचनायें ली जाती थीं, जिनमें शब्द और अर्थ मिले रहते थे।

साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति करने पर उसमें 'सहित' रहने का भाव छिपा मालूम होता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो सूत्र निकलता है, वह है 'सहितस्य भावः साहित्यम्'। सहित रहने का भाव भी, शब्द और अर्थ के सहित होने का संकेतक है, साथ ही उसके द्वारा हित अर्थात् कल्याण से युक्त होने का भाव भी व्यक्त होता है। अपने इस नये अर्थ में साहित्य शब्द अर्थ से पूर्ण वह रचना है, जिसमें कल्याण की भावना निहित होती है।

'साहित्य' का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ

---

१. भामह : काव्यालंकार—शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।

कुछ विद्वानों के मतानुसार साहित्य शब्द का निर्माण 'सम' उपसर्ग और 'धा' धातु के परिवर्तित रूप 'ही' के योग से हुआ है।[1] इस व्युत्पत्ति को मान लेने पर 'साहित्य' का अर्थ विभिन्न वस्तुओं का मिलन होगा। इस मिलन में शब्द-अर्थ का मिलन भी आ सकता है और अलंकार, अनुप्रास, छन्द आदि का मिलन भी। काव्य के विभिन्न उपकरणों को मिलाने वाले लक्षण-ग्रन्थों को भी इसीलिये साहित्य की संज्ञा मिली है। अतः अपने इस अर्थ में साहित्य प्राचीनकाल से ही 'लक्षण-ग्रन्थों' का बोध कराता आ रहा है।

'साहित्य' शब्द का प्राचीन अर्थ अब बदल चुका है। आज के युग में 'साहित्य' काव्य का पर्यायवाची बन गया है। किन्तु काव्य के अर्थ में साहित्य का प्रयोग अर्थ-संकोच के द्वारा ही सम्भव हुआ है। अपने व्यापक अर्थ में तो साहित्य काव्य के अतिरिक्त उन सभी कृतियों का परिचायक है जिनमें शब्द-अर्थ के साथ कल्याण की भावना निहित हो।

आज के युग में 'साहित्य' का संकुचित अर्थ ही ग्राह्य है। सम्पूर्ण वाङ्मय का वह अंश जिसे 'ललित वाङ्मय' की संज्ञा दी जा सकती है,

साहित्य में सत्यं शिवं सुन्दरम्

साहित्य है। इस साहित्य में हमारी विभिन्न मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है। हम अपने अनुभवों को कल्याणकारी बनाकर समाज के सामने साहित्य के द्वारा व्यक्त करते हैं। इन अनुभवों को व्यक्त करने की हमारी शैली रोचक एवं रमणीय होती है। यदि हम अपने अनुभव को 'सत्य' मानें और उससे कल्याण-विस्तार की भावना को 'शिव' मानें तो हमारी शैली ही 'सुन्दर'

१. साहित्यविमर्श—लेखक श्री शरच्चन्द्र पण्डित : पृ० ९

कहलायेगी और अपने इस रूप में साहित्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की भावना से पूर्ण होगा। वाङ्मय का वह अंश जिसमें सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का समन्वय हो, साहित्य कहलाता है। सत्य, शिव और सुन्दर की यह भावना पाश्चात्य साहित्य के The true, The good, The beautiful की भावना से ली गयी है। अपने उद्देश्य के रूप में भी साहित्य और Literature अपने वर्तमान अर्थ में एक दूसरे के पर्यायवाची ही हैं।

साहित्य का लेखक अपने समाज की स्थितियों से परिचित होकर मौन नहीं रह जाता, वह उस पर ध्यान देता है, उस स्थिति का सूक्ष्म अध्ययन करता है और उसके सम्बन्ध में अपना विचार बनाता है। लेखक का यह विचार ही साहित्य में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। साहित्यकार मौन द्रष्टा न होकर द्रष्टा, चिन्तक और स्रष्टा तीनों ही होता है। वह सामाजिक कार्यों को देखता है, उन पर विचार करता है और यदि वह उचित समझता है तो उनमें परिवर्तन उपस्थित करने का उपक्रम करता है। वह समाज का 'फोटो' नहीं लेता, उसका चित्र बनाता है। समाज का ख़ाका लेकर रंग अपना भरता है, समाज की समस्याओं को लेकर उनके हल की बात कहता है।

साहित्य, अनुभव और निर्माण

साहित्यकार की आँख वहीं नहीं है, जहाँ सामान्य प्राणियों की आँख है। उसकी आँख विचार के आगार मस्तिष्क में है। वह स्थूल रूप में वस्तु को देखकर मौन नहीं रह जाता, उस पर विचार भी करता है।

संवेदन तत्त्व की प्रधानता के कारण साहित्यकार लोगों के दुःख से पीड़ित होता है और लोगों के सुख से सुखी होता है। इसी संवेदना

के मूल में होने के कारण साहित्यकार अपने युग के अनुरूप रचना करता है। हिन्दी-साहित्य में ही वीरगाथा काल के कवि परिस्थितियों के आधार पर वीररस की कविता करने में प्रवृत्त हुए। परिस्थितियाँ बदलीं और सन्तों के प्रभाव से भक्ति का वातावरण उत्पन्न हुआ। इस भक्ति का अनुभव भी कवियों ने किया और काव्य में भक्ति की धारा बह चली। ऐश और आराम का युग आया और साहित्य में नायिका-भेद तथा काव्य-रीति की चर्चा आरम्भ हो गयी। जब ज़माना बदला और सुधारवादी तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण हुआ तो साहित्यकारों ने भी सुधारसम्बन्धी एवं राष्ट्रीय रचनाएँ प्रस्तुत कीं। अतः यह कहा जा सकता है कि समाज का प्रभाव कवि या साहित्यकार पर पड़ता है। साहित्यकार समाज के प्रभाव को अपना अनुभव बनाकर अपनी कृति में उसे चित्रित करता है। इसीलिये साहित्य में युग का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है और साहित्य को 'समाज का दर्पण' की संज्ञा मिलती है।

साहित्यकार पर समाज का प्रभाव पड़ता है, साथ ही साहित्यकार समाज को नयी दिशा देता है। अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा साहित्यकार बहुत दूर की चीज को देख लेने में समर्थ होता है। अपनी दूर-दृष्टि के कारण वह अपने समाज के भविष्य को भी समझ सकने में समर्थ होता है। अपने इसी सामर्थ्य के बल पर वह उस नयी राह का निर्माण करता है जिस पर चल कर लोग शान्ति और कल्याण को उपलब्ध करते हैं। साहित्यकार या कवि को काव्य-संसार का प्रजापति कहा गया है। 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।'

कहा जाता है कि जहाँ रवि नहीं पहुँचता वहाँ कवि पहुँच जाया करता है। यह कार्य कवि अपनी कल्पना के द्वारा संपादित करता है।

वह इसी कल्पना के द्वारा ऐसे सत्य का दर्शन करता है जो समाज के लिये कल्याणकारी होता है। कवि या साहित्यकार के विचार में लोक-कल्याण की भावना रहती है क्योंकि उसके अन्दर वह अनुराग रहता है जिससे किसी का विरोध नहीं होता। उसके विचार में कहीं द्वेष या मत्सर का भाव नहीं रहता, वह सात्विक विचार वाला ऐसा प्राणी है जो अपने संपर्क से दूसरों को पवित्र कर सकता है। साहित्यकार के पूत विचार उन आदर्शों का निर्माण करते हैं, जिनका आधार लेकर समाज आगे बढ़ता है।

साहित्यकार साहित्य का निर्माण करने में विभिन्न हेतुओं का आश्रय लेता है। इन्हीं हेतुओं को काव्य या साहित्य का हेतु कह सकते हैं।

साहित्य या काव्य के हेतु

काव्य के हेतु के रूप में जिन गुणों की गणना हुई है, वे हैं—प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। इसे ही 'काव्यप्रकाश' के लेखक 'मम्मट' ने शक्ति, योग्यता और अभ्यास की संज्ञा दी है। उनके अनुसार शक्ति या प्रतिभा नैसर्गिक होती है और योग्यता तथा अभ्यास अर्जित। काव्य के इन हेतुओं के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है[1]:—

'शक्तिर्निपुणता लोककाव्यशास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥'

काव्य के इन हेतुओं में से प्रतिभा के द्वारा दो शक्तियों का बोध होता है—(१) निरीक्षण-पटुता, (२) अभिव्यक्ति। जिस साहित्यकार की सूझ अच्छी होती है, उसे प्रतिभा-सम्पन्न माना जाता है। बिना 'प्रतिभा' के साहित्य-निर्माण संभव नहीं है।

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश १।३

प्रतिभा के रहने पर भी यदि लोक और वेद का ज्ञान न हो तो साहित्यकार अपनी साहित्यिकता का पूरा परिचय नहीं दे सकता। अतः लोक और वेद के ज्ञान को भी हेतु माना गया है, और उसे 'योग्यता' या 'व्युत्पत्ति' की संज्ञा दी गयी है। योग्यता के साथ ही 'अभ्यास' की भी आवश्यकता होती है। अभ्यास छूटने पर शक्ति कुंठित हो जाती है। इसीलिये 'अभ्यास' को भी काव्य का 'हेतु' माना गया है। इस प्रकार काव्य के तीन हेतु माने गये हैं— (१) प्रतिभा, (२) योग्यता, (३) अभ्यास। इन तीन हेतुओं से सम्पन्न साहित्यकार ही श्रेष्ठ साहित्यकार होता है और उसे ही द्रष्टा, चिन्तक और स्रष्टा की उपाधि प्राप्त होती है।

साहित्य या काव्य का प्रयोजन

साहित्य अर्थात् काव्य के प्रयोजन के सम्बन्ध में विद्वानों ने विभिन्न मत दिये हैं। 'काव्यप्रकाश' के लेखक 'मम्मट' ने काव्य के छह प्रयोजन स्वीकार किये हैं[1]:—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे॥'

अर्थात् काव्य यश के लिये, अर्थ के लिये, व्यवहार-ज्ञान के लिये, अमंगल का नाश और मंगल का विधान करने के लिये, ब्रह्मानन्द-सहोदर रस की प्राप्ति के लिये तथा कांतासम्मित संदेश या उपदेश के लिये रचा जाता है।

(१) यशसे:—'एषणात्रयी' में 'लोकेषणा' का महत्त्व स्वयं सिद्ध है। संसार में जितने भी कार्य होते हैं, उनके मूल में धनोपार्जन या

---

१. मम्मट : काव्यप्रकाश १।२

यशोपार्जन की भावना निहित रहती है। आज का मनोविश्लेषण-वादी जब 'प्रभुत्व-कामना' को साहित्य की प्रेरक शक्ति घोषित करता है तो उसका अर्थ भी 'यशःप्राप्ति की कामना' ही होता है। मनुष्य तर्क-प्रधान प्राणी है, वह अन्य जीवों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। वह संसार में पैदा हो कर कुछ कार्य करना चाहता है। वह अपने कार्यों के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति करना चाहता है। उसकी इस 'चाहना' को तभी सफलता मिलती है, जब वह अपने कार्यों से यश की उपलब्धि करता है। यश की उपलब्धि के लिये विभिन्न कार्य किये जाते हैं, साहित्य-निर्माण भी उन्हीं कार्यों में से एक है। काव्य-निर्माण के पीछे यश की कामना को स्वीकृति दे कर ही 'मम्मट' ने काव्य के प्रयोजनों की गणना करते समय 'काव्यं यशसे' का कथन किया है।

(२) अर्थकृते:—'एषणात्रयी' में 'वित्तेषणा' की भी गणना है। आज के भौतिक-युग में जितने भी कार्य किये जा रहे हैं, उनके मूल में अर्थोपार्जन की भावना रहती है। कुछ लोग अर्थ का संग्रह, ऐश्वर्य के लिये करते हैं और कुछ लोग भरण-पोषण के लिये। भूखे रह कर कोई कार्य नहीं किया जा सकता। अर्थ के उपार्जन के विभिन्न साधन हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि से उन साधनों का उपयोग करता है। साहित्य-निर्माण के द्वारा भी अर्थ की प्राप्ति होती है और साहित्यकार इस उद्देश्य से भी साहित्य का निर्माण करते हैं। इसीलिये काव्य के प्रयोजन में अर्थ-भावना को भी स्वीकार किया गया है। यह 'अर्थ-कृते' की भावना आज साहित्य-निर्माण की प्रधान भावना बन बैठी है, किन्तु पूर्व काल में उसे गौण स्थान ही प्राप्त था। अर्थ की भावना प्रधान होने पर साहित्य अपने उत्कृष्ट रूप में सामने नहीं आता। अनुभूति को दबा कर जनरुचि को महत्त्व देने पर ही साहित्य अधिक अर्थ की उपलब्धि कर सकता है। भारतीय मनीषियों ने अनुभूति को मुख्य

माना है। इसीलिये अर्थ की भावना को मान्यता तो दी गयी है, पर उनकी दृष्टि में यह प्रयोजन मुख्य न हो कर गौण ही रहा है।

(३) व्यवहारविदे :—काव्य का तीसरा प्रयोजन 'व्यवहार-ज्ञान' माना गया है। व्यवहार का दो अर्थ विद्वानों ने लिया है। कुछ लोगों ने व्यवहार का अर्थ शिष्टाचार किया है। इस दृष्टि से 'व्यवहार-विदे' का अर्थ होगा—'काव्य या साहित्य की रचना करके पाठकों को लौकिक व्यवहार और शिष्टाचार का परिचय देना।' कवि अपने लौकिक-ज्ञान को अपने काव्य के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाता है। तुलसीदास जी ने चित्रकूट में राम और भरत का मिलन दिखाकर, पाठकों को शिष्टाचार का ही ज्ञान कराया है।

काव्य में व्यवहार का अर्थ 'नियत आचार' का कथन भी है। जिसके लिये जैसे आचरण का विधान किया गया हो, उसके लिये उसी आचार का कथन करना उचित होता है। कवि इन आचारों को प्रसंगानुकूल बतलाता है और सहृदय उन्हें सीखता है। इस प्रकार 'व्यवहार-विदे' में सहृदय पर विशेष दृष्टि रक्खी गयी है।

(४) शिवेतरक्षतये :—'शिवेतरक्षतये' का अर्थ है 'शिव' के विरुद्ध जो हो, उसका नाश। इस अर्थ से यह सिद्ध है कि इस प्रयोजन के द्वारा अमंगल का नाश और मंगल की सृष्टि होती है। 'राम-से बनो, रावण-से नहीं' जैसी भावना का कथन ही 'शिवेतरक्षतये' है। कभी-कभी लेखक अनिष्ट-निवारण का उद्देश्य लेकर भी काव्य-रचना करते हैं। इस उद्देश्य में उन्हें सफलता भी मिलती है। 'शिवेतरक्षतये' की भावना से ही तुलसीदास जी ने 'हनुमानबाहुक' की रचना की, इस रचना के बाद उनकी बाहु-व्यथा दूर हुई। व्यथा जैसे 'शिवेतर' के क्षय के लिये रचना करना 'शिवेतरक्षतये' प्रयोजन का समर्थक है।

(५) सद्यः परनिर्वृतये :—काव्यकार, रस व आनन्द का अनुभव स्वयं करता है तथा उस अनुभूत आनन्द का रसास्वादन पाठकों को कराता है। रस को ब्रह्मानन्दसहोदर कहा गया है। यह 'रस' ही काव्य की आत्मा है। 'रस' पर दृष्टि रखने वाला यह प्रयोजन महत्त्व-पूर्ण है। काव्य को 'सद्यः परनिर्वृतये' नामक प्रयोजन की सिद्धि करनी चाहिये। इसकी सिद्धि तभी होती है जब लेखक स्वयं रस का अनुभव करे और अपनी कला द्वारा उसे पाठक तक पहुँचा दे।

(६) कांतासम्मिततयोपदेशयुजे :—उपदेश तीन प्रकार के होते हैं:—(१) प्रभु-सम्मित (२) सुहृत्सम्मित (३) कांता-सम्मित। प्रभु-सम्मित का अर्थ होता है प्रभु के समान। प्रभु आदेश देता है और उसके आदेश को न मानने पर दण्डित होना पड़ता है। राजा की आज्ञा या देश का कानून इसी प्रकार का उपदेश है। इनका उल्लङ्घन करने पर दण्ड का विधान होता है। 'वेद' द्वारा निर्दिष्ट नियम भी प्रभु-सम्मित ही होता है। उसे न मानने पर भी व्यक्ति 'पापी' कहलाता है। प्रभु-सम्मित उपदेश के सम्बन्ध में कोई प्रश्न उपस्थित नहीं किया जा सकता। वे स्वयं ही प्रमाणित माने जाते हैं। सुहृत्सम्मित का अर्थ है मित्र के समान उपदेश। मित्र वस्तु के सद् और असद् दोनों ही पक्षों को सामने रख देता है। अपने मित्र को स्वयं विचार करने का अवसर देता है। सुहृत्सम्मित को मानना आवश्यक नहीं होता। उसे न मानने पर दण्ड का विधान भी नहीं है। सुहृत्सम्मित उपदेश में 'उदासीनता' का भाव रहता है। पुराण आदि के उपदेश को 'सुहृत्सम्मित' कह सकते हैं, क्योंकि उन्हें न मानने पर भी दण्ड नहीं मिलता।

कांता-सम्मित का अर्थ है—प्रेयसी-सम्मित उपदेश। प्रेयसी या पत्नी-सम्मित उपदेश में माधुर्य होता है। उसमें न तो प्रभु का सा आदेश

होता है और न मित्र की सी उदासीनता। उसके उपदेश माधुर्य भाव से पूर्ण होने के कारण रस को उत्पन्न करने वाले तथा आनन्द की सृष्टि करने वाले होते हैं। साहित्य के उपदेश भी रस को उत्पन्न करते हैं। इसीलिये साहित्य या काव्य का प्रयोजन बतलाते हुये आचार्य 'मम्मट' ने 'कांतासम्मिततयोपदेशयुजे' का कथन किया है।

काव्य के इन छह प्रयोजनों में से 'यशसे' 'अर्थकृते' और 'शिवेतरक्षतये' का सम्बन्ध मुख्यतः लेखक से रहता है और शेष का लेखक तथा पाठक दोनों से।

२. परिभाषा और स्वरूप

साहित्य अथवा काव्य के दो पक्ष मान्य हैं। इन दो पक्षों को हम विभिन्न नामों से जानते हैं। नाम चाहे जो हो, किन्तु इन पक्षों में एक

अन्तरंग एवं बहिरंग पक्ष

पक्ष काव्य के अनुभूति या भाव-पक्ष का परिचायक होता है और दूसरा उसकी अभिव्यक्ति अथवा कला-पक्ष का। अपने इस गुण के कारण ही काव्य भाव-पक्ष और कला-पक्ष में विभाजित है। काव्य के भाव-पक्ष को ही हम काव्य का अन्तरंग और कला-पक्ष को ही बहिरंग मानते हैं। काव्य के अन्तर्गत इन दोनों ही पक्षों का समन्वय होना आवश्यक होता है। यदि हम काव्य को एक नायिका मानें तो उसका अन्तरंग प्राण और बहिरंग काया माना जायगा। प्राण और काया दोनों की आवश्यकता नायिका के लिये मान्य है, किन्तु इन दोनों में प्राण विशेष महत्त्वपूर्ण है। सुन्दर नायिका भी प्राण-हीन होने पर अस्पृश्य हो जाती है और असुन्दरी नायिका भी प्राण-युक्त होने पर माया की पुतली बनी रहती है। काव्य या साहित्य में भी भाव को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। भावहीन साहित्य कला से पूर्ण होने पर भी साहित्य न हो

कर शब्द-चमत्कार बन जाता है और भाव से पूर्ण साहित्य, कला से हीन होने पर भी उपादेय रहता है। इसी दृष्टि से आज यह मान्य है कि काव्य या साहित्य की आत्मा उसके भाव में रहती है, न कि उसकी कला में।

काव्य की आत्मा

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते हुये संस्कृत के आचार्यों ने अपने-अपने मत दिये हैं। उनके इस मत से ही काव्य की परिभाषा भी बनती है। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करने वाले विचारकों में दण्डी, भामह, वामन, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, आनन्दवर्धन आदि का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है।

अलंकार-संप्रदाय:—अलंकार संप्रदाय के मुख्य आचार्य हैं—दण्डी, भामह, उद्भट आदि। मम्मट ने भी कुछ हद तक अलंकार को आत्मा रूप में स्वीकार किया है। भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' कहा है। इनके अनुसार शब्द और अर्थ को ही काव्य माना गया। इन आचार्यों ने वस्तु, रस और अलंकार सबको ही 'अलंकार' मान लिया। इन सबको वाच्यार्थ का सौन्दर्यवर्धन करने वाला मान कर इन लोगों ने 'अलंकार' के अन्तर्गत ही स्थान दिया। 'अलंकार' का अर्थ है 'अलंकरण करना' अर्थात् सौन्दर्य को बढ़ाना। वाच्यार्थ का सौन्दर्यवर्धक होने के कारण वस्तु, रस आदि भी अलंकार के ही रूप में स्वीकार कर लिये गये। इन अलंकारवादियों में भी कुछ अलंकारवादी शब्दालंकार को महत्त्व देते थे और कुछ अर्थालंकार को। वे अलंकारशून्य शब्दार्थ को काव्य मानने को तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि जैसे अग्नि में ताप के न होने पर उसे अग्नि नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार अलंकार के न रहने पर 'शब्दार्थ' भी काव्य नहीं कहा जा सकता। हिन्दी के आचार्यों में

'केशवदास' जी भी अलंकारवादी ही थे, 'भूषन बिन न बिराजई कविता बनिता मित्त' में उनका अलंकारवादी रूप स्पष्ट है।

अलंकार से कविता का सौन्दर्य तो बढ़ता है, किन्तु उसे ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। भाव-प्रवाह के बीच स्वभावतः जब अलंकार आ जाते हैं तो वे भाव की अभिव्यक्ति को बल देते हैं और कविता में निखार उपस्थित करते हैं। किन्तु सौन्दर्यवर्धन के लिये जबर्दस्ती अलंकार का प्रयोग कविता के सौन्दर्य को बढ़ाने की अपेक्षा नष्ट ही करता है। अलंकार को 'बहिरंग' रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, आत्मा रूप में नहीं। अलंकार के अन्दर ही वस्तु और रस को मान लेना भूल है।

रीति-सम्प्रदाय :—आचार्य वामन ने रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। वे 'अलंकार' को काव्य की आत्मा न मान कर रीति को काव्य की आत्मा मानते थे। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' से उनकी इस विचारधारा को समझा जा सकता है। रीति की परिभाषा देते हुये वामन' ने कहा है:—'विशिष्टा पदरचना रीतिः'। विशिष्ट पद-रचना का अर्थ केवल 'शब्द और अर्थ' या 'अलंकार-प्रयोग' नहीं है। उसमें माधुर्य, प्रसाद, ओज आदि गुणों का भी होना आवश्यक होता है। रीति तीन प्रकार की मानी गयी है:—(१) गौड़ी:—जब ओज और प्रसाद गुण से युक्त रचना होती है तो 'गौड़ी रीति' समझनी चाहिये। (२) वैदर्भी:—जिसमें ओज और प्रसाद भी हो, किन्तु माधुर्य गुण भी अवश्य हो। अर्थात् 'वैदर्भी रीति' में माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनों ही गुणों का होना आवश्यक होता है। (३) पाञ्चाली:—माधुर्य और प्रसाद से युक्त होने पर 'पाञ्चाली रीति' समझनी चाहिये।

रचना में इन गुणों की उपस्थिति पाठक या श्रोता को भावना को जागृत करती है। वामन के मतानुसार किसी कृति को 'काव्य' बनाने

में 'गुण' हेतु का कार्य करते हैं। इस काव्य को 'अलंकार' के द्वारा केवल उत्कर्ष प्राप्त होता है।

ध्वनि-सम्प्रदाय:—आनन्दवर्धन ने ध्वनि-कारिकाओं की व्याख्या करते हुये, ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। इस ध्वनि का अर्थ होता है 'व्यंग्यार्थ'। शब्द, भाव की अभिव्यक्ति करते हैं। इन शब्दों के अन्दर विभिन्न शक्तियाँ होती हैं। शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गयी हैं:—

(१) अभिधाशक्ति:—इस शक्ति के द्वारा 'वाच्य अर्थ' प्रकट होता है। 'वाच्यार्थ' का अर्थ है, नित्य के व्यवहार में प्रसिद्ध अर्थ। शब्द वाचक होता है और उसका अर्थ वाच्य होता है। यदि किसी 'मूर्ख' को सीधे-सादे ढंग पर कह दिया जाय कि 'तुम मूर्ख हो' तो इसमें प्रत्येक शब्द अपने सीधे अर्थ में व्यवहृत दीखेगा। शब्द का व्यवहार में प्रचलित अर्थ ही स्वीकार होने के कारण यहाँ 'अभिधा' शक्ति का प्रयोग माना जायगा।

(२) लक्षणा-शक्ति:—जब शब्द का मुख्यार्थ या वाच्यार्थ बाधित होता है, उसके द्वारा अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता और मुख्यार्थ से सम्बन्धित दूसरा अर्थ स्वीकार किया जाता है, तब 'लक्षणा-शक्ति' मानी जाती है। लक्षणा-शक्ति का अर्थ है मुख्यार्थ के बाधित होने पर उससे सम्बन्धित दूसरे अर्थ को स्वीकृति मिलना। व्यवहार का प्रचलित अर्थ न लेकर जब उससे सम्बन्धित अर्थ लिया जाता है, तब 'लक्षणा-शक्ति' मानी जाती है। यदि कहा जावे कि 'रामू ने अपनी लड़की को कुँए में डाल दिया' तो इसका लक्षणा से इस प्रकार अर्थ होगा:—'रामू ने अपनी लड़की को दुखी परिवार में ब्याह दिया, अब उस दुःख से मुक्ति की कोई आशा नहीं है।' यह लक्षणा शक्ति दो

प्रकार की होती है:—(१) प्रयोजनवती लक्षणा :—जब लक्षणा शक्ति का प्रयोग किसी विशेष अर्थ की प्रतीति के लिये किया जाय। (२) निरूढा लक्षणा :—जब 'शब्द' केवल लाक्षणिक अर्थ का ही द्योतन करने के लिये प्रयुक्त होता हो और ऐसे ही शब्दों का प्रयोग हुआ हो। 'कुँए में डालना' शब्द एक ओर दुःख का परिचायक है और दूसरी ओर उस दुःख से मुक्ति न मिल सकने की सूचना देने वाला है। अतः इन दो भावों को एक ही शब्द से व्यक्त करने का प्रयोजन होने के कारण इस वाक्य में 'प्रयोजनवती लक्षणा' सिद्ध हुई है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए:—'उसकी वेदना हाहाकार कर रही है' में 'हाहाकार' शब्द स्वयं लक्षणामूलक है, अतः यहाँ 'निरूढा लक्षणा' मानी जायगी।

(३) व्यंजना शक्ति:—जब वाच्यार्थ के साथ ही वाक्य से व्यंग्यार्थ भी ध्वनित होता हो तो व्यंजना शक्ति मानी जाती है। इस प्रकार के प्रयोग में वाच्यार्थ निर्बल और व्यंग्यार्थ प्रबल होता है। यदि कोई मजदूर अपने मालिक के पास जाकर कहे 'आज ३ तारीख हो गई है' तो वहाँ वाच्यार्थ के रूप में ३ तारीख का उतना महत्त्व न होगा जितना वेतन के तकाजा रूपी व्यंग्यार्थ रूप में। उस वाक्य का अर्थ होगा—'महीना समाप्त हुआ, वेतन दीजिये।' व्यंग्यार्थ में ध्वनि का निवास मानकर ध्वनिकार ने 'व्यंजना शक्ति' को महत्त्व दिया है। वे काव्य की आत्मा के रूप में ध्वनि को मान्यता देते हुये कहते हैं:— 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'। इसका अर्थ यही है कि विभिन्न गुणों से पूर्ण वह वाक्य जिसमें व्यंग्यार्थ महत्त्वपूर्ण हो 'काव्य' है। उन्होंने गुणों को अमान्य नहीं ठहराया है, उसके साथ ध्वनि को महत्त्व देकर दोनों को ही स्वीकार किया है। ध्वनियाँ तीन प्रकार की मानी गयी हैं— १—वस्तु-ध्वनि, २—अलंकार-ध्वनि, ३—रस-ध्वनि। ध्वनिकार ने इन तीनों को ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार किया है।

रस-संप्रदाय :—रस को स्वीकृति तो भरत मुनि से ही मिल चुकी थी किन्तु काव्य की आत्मा के रूप में उसे घोषित करने वालों में अभिनवगुप्तपादाचार्य का मुख्य हाथ था। भामह आदि ने उसे अलंकार के अन्दर माना था। ध्वनिकार ने रस को अलंकार से भिन्न माना किन्तु 'ध्वनि' के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ लिया। आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने रसादि-ध्वनि को प्रमुख मानकर उसे ही काव्य की आत्मा कहा। आचार्य विश्वनाथ ने भी अपने साहित्य-दर्पण में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'[1] कहकर 'रस' को ही काव्य की आत्मा माना। इस 'रस' को ही 'ब्रह्मानंद-सहोदर' भी कहा जाता है। रस की निष्पत्ति के संबन्ध में भरत मुनि ने एक सूत्र दिया है:—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'। इस प्रकार से निष्पन्न होने वाले रसों की संख्या ९ मानी गयी है, किन्तु कुछ लोग उसे १० भी मानते हैं। रस की प्रतीति के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा विवाद है। अभिनवगुप्त, भट्टनायक, शंकुक और भट्टलोल्लट आदि विद्वानों के मत इस विषय पर विभिन्न दृष्टिकोण से प्रकाश डालते हैं।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' के द्वारा कविता के कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों को ही स्वीकृति मिली है। 'वाक्यं' शब्द 'कला' की ओर संकेत करता है और 'रसात्मकं' भाव की ओर।

वक्रोक्ति-संप्रदाय :—'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले आचार्य कुन्तक का मत है कि काव्य में चमत्कार 'वक्रोक्ति' के कारण ही उपस्थित होता है। 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' की वक्रोक्ति अलंकार की वक्रोक्ति से भिन्न है। इस वक्रोक्ति के सम्बन्ध में कुन्तक ने

---

१. साहित्यदर्पण १।३

कहा है :—'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।' इसके द्वारा वक्रोक्ति का जो अर्थ प्रमाणित होता है वह है 'उक्ति-वैचित्र्य'। किसी बात को इस ढंग से कहना कि वाक्य में चमत्कार आ जावे, वक्रोक्ति है। कुन्तक ने इसी 'वक्रोक्ति' में रसादि ध्वनि, अलंकार तथा अन्य तत्त्वों का समावेश माना है। कुन्तक की दृष्टि केवल वक्रता तक सीमित रही और उन्होंने इस वक्रता को ही प्रमुख माना है। वक्रोक्ति के प्रचारकों में वे अकेले व्यक्ति रहे और उनके बाद इस मत को किसी ने मान्यता नहीं दी।

औचित्य-सम्प्रदाय :—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र हैं। उन्होंने काव्य में औचित्य के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया है। उनका कहना है कि काव्य में अलंकार, ध्वनि, रस आदि सबका ही उचित रूप में प्रयोग होना चाहिये। अपने में न तो अलंकार पूर्ण है, न रस और न ध्वनि। इन सबको उचित स्थान न मिलने पर काव्य की श्री नष्ट हो जावेगी। उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिये एक नायिका का उदाहरण दिया है। यदि एक नायिका पाँव के आभूषण को हाथ में और हाथ के आभूषण को नाक में पहन लेवे तो वह उपहासास्पद हो जावेगी। इसी प्रकार काव्यरूपी नायिका के श्रृङ्गार में यदि अलंकारों का अनुचित प्रयोग होगा तो वह भी उपहासास्पद हो जायगी, इसीलिये वे औचित्य की आवश्यकता पर बल देते हैं। नायिकासम्बन्धी यह उदाहरण ठीक नहीं लगता। प्रेमविभोर नायिका यदि प्रेम की तन्मयता में अनुचित ढंग पर आभूषण पहन ले तो भी उपहासास्पद नहीं लगेगी क्योंकि उसमें भाव का प्राधान्य है। काव्य में भी भाव का ही प्राधान्य होता है, अतः अलंकार का अनुचित प्रयोग भी (यदि भावावेश में हुआ है तो) शोभनीय होगा।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की परिभाषा एकदम नये रूप में की है। उन्होंने 'रमणीयार्थभावप्रतिपादकः काव्यम्' के द्वारा स्पष्ट किया है कि काव्य वह है, जिसके द्वारा रमणीय अर्थ का प्रतिपादन होता है।

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। इन सभी मतों में कुछ हद तक सत्यता है। सभी मतों को मिलाने पर पूर्ण सत्य का दर्शन होता है। किन्तु साहित्य या काव्य की परिभाषा के रूप में 'रस' की दृष्टि को ही महत्त्व मिला है और इस दृष्टि से काव्य की आत्मा 'रस' है।

पाश्चात्य मत के अनुसार काव्य की परिभाषा के मूल में भाव, कल्पना, बुद्धि और शैली का योग रहता है। इन्हीं चार तत्त्वों पर विचार करते हुए विद्वानों ने काव्य की परिभाषा तैयार की है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह[1] कहकर, भाव-तत्त्व को महत्त्व दिया है। शेक्सपीयर ने कल्पना-तत्त्व को विशेष महत्त्व दिया है। इन चारों तत्त्वों में समन्वय उत्पन्न करके डा० जॉनसन ने अपनी परिभाषा दी है—'सत्य और मनोरञ्जन के समन्वय की उस कला को कविता कहते हैं जिसमें कल्पना का प्रयोग, बुद्धि के सहायतार्थ होता है।' इस परिभाषा में सत्य और मनोरञ्जन के रूप में भाव, कला के रूप में शैली तथा कल्पना और बुद्धि सभी का समाहार है।

पाश्चात्य और प्राच्य दोनों ही मतों पर विचार करने के बाद यह निर्णीत हुआ है कि काव्य में अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की ही आवश्यकता होती है। अनुभूति में प्राच्य 'रस' तथा पाश्चात्य 'भाव'

---

१. Poetry is Spontaneous overflow of the thought :

Wordsworth.

एवं बुद्धि अंतर्भुक्त है। अभिव्यक्ति में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य तथा पाश्चात्य तत्त्व 'शैली' और 'कल्पना' समाविष्ट है। इस दृष्टि से काव्य की जो आधुनिक परिभाषा बनती है वह इस प्रकार है—'काव्य, कर्ता की वह अनुभूति है जिसे कर्ता अपने शब्दों में अभिव्यक्त करता है; तथा जिसे पढ़ या सुनकर सहृदय कर्ता की मनःस्थिति में पहुँच जाता है।'

काव्य के विभिन्न रूप

काव्य या साहित्य को स्थूल रूप में हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं १—वे काव्य जो पढ़े या सुने जाते हैं और २—वे काव्य जिन्हें पढ़ा, सुना तथा देखा जाता है। पहले प्रकार के काव्य को श्रव्य काव्य कहा जाता है और दूसरे प्रकार के काव्य को दृश्य काव्य। दृश्य काव्य में रूपकों की गणना होती है और श्रव्य काव्य में कविता, कहानी, उपन्यास आदि की। श्रव्य और दृश्य के अतिरिक्त काव्य का एक तीसरा प्रकार भी है, जिसे मिश्र काव्य या चम्पू काव्य कहते हैं। इस प्रकार के काव्य में दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के काव्यों का मिश्रण रहता है। जिस कृति का कुछ अंश अभिनेय हो और कुछ केवल पठ्य हो, उसे चम्पू काव्य कहते हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त कृत 'यशोधरा' चम्पू शैली में ही लिखी गयी है।

श्रव्य काव्य के दो भेद हैं—(१) पद्य (२) गद्य। पद्य का पुनः दो विभाग माना गया है—(१) प्रबन्ध काव्य (२) मुक्तक काव्य। प्रबन्धकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य आते हैं और मुक्तक (उद्भट) काव्य के अन्तर्गत पाठ्य और प्रगीत। गद्य खण्ड उपन्यास, कहानी, जीवन-चरित्र, पत्र, गद्यकाव्य, निबन्ध आदि का समावेश है।

काव्य के रूप को समझने के लिये निम्न चित्र विशेष रूप से सहायक होगा :—

१.
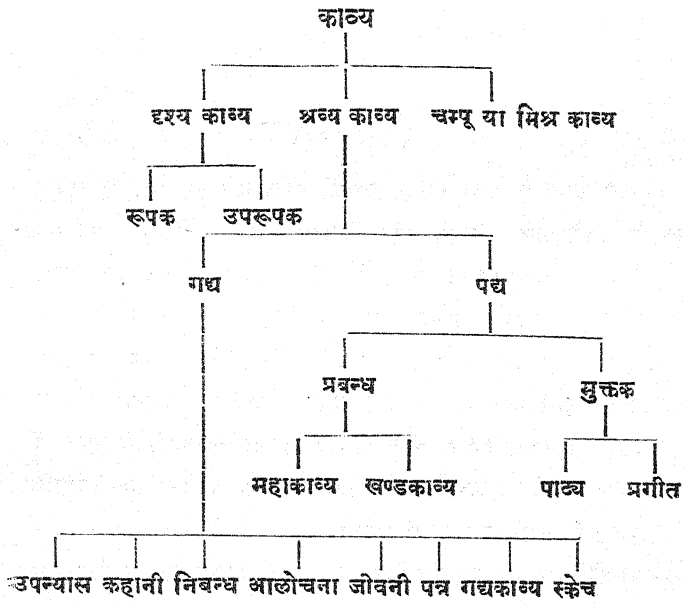
३. दृश्य काव्य

दृश्य काव्य के अन्तर्गत उन काव्यों की गणना की जाती है जिनके मूल में रहने वाले रस को हम विभिन्न कार्य-व्यापारों के दर्शन के पश्चात् प्राप्त करते हैं। जिस काव्य के वर्णित काव्य-व्यापार दृष्टिगत हो सकते हैं, उस काव्य को दृश्य काव्य की संज्ञा मिलती है, किन्तु जिस काव्य के कार्य-व्यापार को हम शब्द की शक्ति द्वारा केवल श्रवण करके जान पाते हैं उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। दृश्य काव्यों का सम्बन्ध दृष्टि से होता है और श्रव्य काव्यों का श्रवण से। श्रव्य काव्य के आनन्द की प्राप्ति के लिये केवल श्रवणेन्द्रिय का ही प्रयोग होता है किन्तु दृश्य काव्य के लिये श्रवणेन्द्रिय एवं चक्षु दोनों का प्रयोग आवश्यक है। यही कारण है कि सफल अभिनय के बाद नाटक या अन्य दृश्य काव्य किसी भी श्रव्य काव्य की अपेक्षा अधिक आकर्षक लगते हैं। दृश्य काव्य में अभिनय की भी आवश्यकता होती है किन्तु श्रव्य काव्य में नहीं। दृश्य काव्य में लेखक, दर्शक और अभिनेता—तीन पक्षों का होना अनिवार्य होता है किन्तु श्रव्य काव्य में केवल दो ही पक्ष होते हैं—लेखक और पाठक। अभिनय की विशिष्टता दृश्य काव्य का भेदक तत्त्व है। आचार्य विश्वनाथ ने इसी भेदक तत्त्व पर दृष्टि रखकर कहा है—'दृश्यं तत्राभिनेयम्' अर्थात् वह काव्य जिसका अभिप्रेत अभिनेय हो 'दृश्य' काव्य है।

परिचय

दृश्य काव्य को ही नाटक या रूपक भी माना गया है और पुनः उसके उपविभेद किये गये हैं। नाटक या रूपक की दृष्टि से भी दृश्य काव्य में अभिनय-तत्त्व की महत्ता का परिचय मिलता है। नाटक की परिभाषा करते हुए कहा गया है—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यं'[1]। यदि इस कथन का सन्धिविच्छेद द्वारा अर्थ-विश्लेषण किया जावे तो यह सिद्ध है कि अवस्था की अनुकृति को नाटक कहते हैं। नाटक में सचमुच अवस्था की अनुकृति ही की जाती है। जब हम 'रामलीला' को नाटकरूप में दिखाते हैं तो राम की अवस्था की अनुकृति ही तो करते हैं। इस नाटक का दूसरा नाम रूपक है। रूपक की परिभाषा भी अवस्था की अनुकृति का ही समर्थन करती है। 'तद्रूपारोपात्तु रूपकं' अर्थात् 'रूप के आरोप को रूपक कहते हैं।' बात स्पष्ट है। जिस काल या व्यक्ति का परिचय देने के लिये रूपक की योजना की जाती है उसी के अनुरूप दृश्यों की अवतारणा 'स्टेज' या रंगमंच पर होती है। अतः इस रूप के आरोप के कारण अभिनय रूपक कहलाता है। दृश्य काव्य, नाटक और रूपक सभी एक दूसरे के पर्यायवाची हैं और सबके मूल में अभिनय का भाव है।

परिभाषा

श्री जयशंकर प्रसाद जी ने 'नाटकों का आरम्भ' शीर्षक निबन्ध में यह दिखलाया है कि नाटक का इतिहास बहुत पुराना है। संस्कृत के आदिकाव्य रामायण में भी 'बहुनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्' के द्वारा नाटकों का उल्लेख मिलता है। भरत मुनि ने भी अपने नाट्यशास्त्र में अमृतमन्थन और त्रिपुरदाह नामक नाटकों का उल्लेख किया है। अतः इन प्रसंगों से यह प्रमाणित है कि नाटक एक बहुत

नाटक पाँचवाँ वेद है

---

१. दशरूपक १।७

प्राचीन विद्या है। यह भी कहा जाता है कि नाटक को ब्रह्मा ने पाँचवें वेद के रूप में रचा है। चार वेद शूद्रों के द्वारा अस्पृश्य रहे अतः सबको ज्ञान मिल सके, इस भावना से ब्रह्मा ने पाँचवें वेद 'नाटक' की रचना की। नाटक को दृश्य काव्य का रूप इसलिये दिया गया कि जो अर्धविकसित मस्तिष्क वाले हैं, वे भी उसका आनन्द ले सकें और उसके माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर सकें।

अभिनय:—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि "—'अभिनय' शब्द का अर्थ वह 'क्रिया' है जो दर्शक को 'रसानुभूति' की ओर ले जाय[1]।" अभिनय का यह अर्थ लेने पर रंगमंच की सजावट, वेश-विन्यास और पात्रों के कार्य-व्यापार आदि सभी अभिनय के अन्तर्गत आ जाते हैं। यह अभिनय चार प्रकार का माना गया है—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। 'आंगिक' अभिनय वह अभिनय है जिसमें पात्र अपने अंगों के संचालन द्वारा दर्शक को रसानुभूति की ओर ले जाता है। आँख मटकाना, सिर डुलाना, हाथ और पाँव में विशिष्ट स्थिति का कम्पन लाना आदि कायिक या आंगिक अभिनय हैं। 'वाचिक' अभिनय में वाणी का प्रयोग होता है। स्वर में उतार या चढ़ाव का लाना, पद्य का पाठ एवं गद्यमय वक्तव्यों का कथन और इस कथन की शैली ही वाचिक अभिनय है। 'आहार्य' के अन्तर्गत वेष-भूषा तथा अन्य श्रृंगार आदि का ध्यान रक्खा जाता है। सात्त्विक अभिनय में स्वेद, प्रकम्प, रोमांच आदि का समावेश होता है। अभिनय की इन चारों प्रणालियों के समन्वय से अभिनय की वह पूर्ण इकाई बनती है जिससे रसानुभूति तीव्र हो जाती है। इन अभिनयों में से किसी एक में त्रुटि हो जाने पर रसानुभूति में न्यूनता आने लगती है। रसानुभूति की तीव्रता के लिये ही दृश्य काव्य की योजना की जाती

१. साहित्य का साथी—पृष्ठ १२६

है, अतः अभिनय की सफलता पर ही दृश्य-काव्य की सफलता निर्भर करती है।

नाटक, कहानी और उपन्यास तीनों में ही औत्सुक्य तत्त्व की प्रधानता रहती है। इन तीनों में ही कथानक, चरित्र, कथोपकथन, देश-काल-पात्र, उद्देश्य और भाषा-शैली का

नाटक-कहानी-उपन्यास महत्त्व रहता है। 'प्रभाव की अन्विति' की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो भी इन तीनों में एकरूपता दिखायी पड़ती है। किन्तु इन सभी समानताओं के उपस्थित रहते हुए भी इन तीनों में पर्याप्त भेद है। नाटक का कथानक उपन्यास की अपेक्षा अधिक संश्लिष्ट रहता है और कहानी का कथानक इन सबसे अधिक ठोस होता है। इस दृष्टि से नाटक कहानी के निकट है, किन्तु उपन्यास से दूर है। नाटक में अभिनय-तत्त्व की प्रधानता रहती है, किन्तु कहानी और उपन्यास में अभिनय-तत्त्व का नितांत अभाव रहता है। अभिनय की इस योजना से नाटक कहानी और उपन्यास से बहुत दूर है। उपन्यास में स्थान और समय अधिक रहता है अतः मूल कथा से भिन्न बातें भी कही जा सकती हैं। नाटक में उपन्यास की अपेक्षा कम समय रहता है, अतः मूल कथा से हटना कठिन होता है। कहानी में स्थानाभाव के कारण मूल कथा के अतिरिक्त दूसरी बात कहने का अवसर ही नहीं रहता। इसीलिये कहानी का कथानक अधिक संश्लिष्ट रहता है, अपेक्षाकृत नाटक और उपन्यास के। नाटक में नाटककार अपनी ओर से कुछ भी नहीं कह सकता। उसे अपनी सभी भावनाओं का परिचय पात्रों के वार्तालाप के माध्यम से देना पड़ता है। कहानी में भी लेखक को बहुत कम छूट रहती है, किन्तु उपन्यास में लेखक को बहुत अधिक छूट रहती है। प्रभावान्विति की दृष्टि से कहानी और नाटक एक दूसरे से अधिक निकट हैं।

उपन्यास में प्रभावान्विति अपेक्षाकृत कम है। नाटक, कहानी और उपन्यास की समानताओं और असमानताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाटक कहानी के निकट है, उपन्यास से दूर है।

नाटक के तत्त्व

नाटक के मूल तत्त्व हैं:—कथावस्तु, पात्र और रस। किन्तु जिन आधारभूत तत्त्वों के आधार पर नाटक, कहानी और उपन्यास का भेद निरूपित हुआ है, उसके अनुसार नाटक के तत्त्व हैं:—कथावस्तु, कथनोपकथन, चरित्र-चित्रण, देश-काल-पात्र (Three unities), उद्देश्य या प्रयोजन।

कथावस्तु:—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर नाटक की कथा का दो रूप में विभाजन हो सकता है—(१) कथानक के स्रोत के आधार पर (२) कथानक के महत्त्व के आधार पर। कथानक के स्रोत की दृष्टि से कथानक तीन प्रकार का होता है—१–प्रख्यात, २–उत्पाद्य, ३–मिश्रित। कथानक के महत्त्व के आधार पर कथानक दो प्रकार का होता है—१–आधिकारिक, २–प्रासंगिक। प्रासंगिक कथानक पुनः दो वर्ग में बँटता है:—१–पताका, २–प्रकरी। कथानक का यह विभाजन इस चित्र से अधिक स्पष्ट होगा:—
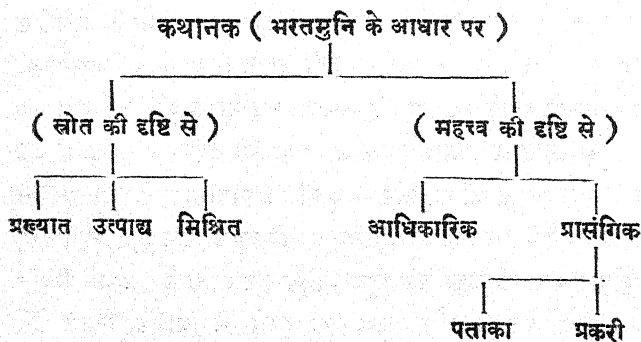
प्रख्यात कथानक :—पुराण, इतिहास या जनश्रुति के आधार पर जिस कथानक की रचना होती है, उस कथानक को प्रख्यात कथानक की संज्ञा मिलती है। ऐसे कथानक के तथ्यों में लेखक परिवर्तन नहीं कर सकता। मूल कथा अपने स्रोत से ही ली जाती है जैसे प्रसाद जी कृत 'जनमेजय का नागयज्ञ'।

उत्पाद्य कथानक :—नाटककार कथानक के रूप में किसी प्रख्यात कथानक को न लेकर अपनी कल्पना के द्वारा संभाव्य सत्य को चित्रित करता है। वह अपने युग के सत्य का उद्घाटन करता है। समस्या-मूलक नाटक इसी प्रकार के कथानक से समन्वित होते हैं, जैसे लक्ष्मी-नारायण मिश्र का 'सिन्दूर की होली'।

मिश्रित कथानक :—उस कथानक को मिश्रित कथानक कहते हैं, जिसमें प्रख्यात कथानकों को स्वीकार तो किया जाता है पर लेखक अपनी कल्पना का भी प्रयोग करता है। अपनी कल्पना के माध्यम से वह प्रख्यात कथा को बदल भी देता है। प्रसाद जी का 'अजातशत्रु' नाटक ऐतिहासिक आधार पर आश्रित होकर भी मिश्रित कथानक-संयुक्त ही माना जाना चाहिये, क्योंकि उसमें 'अम्बपाली' आदि के रूप में परिवर्तन है।

आधिकारिक कथानक :—प्रत्येक नाटक में एक मूल कथा होती है, नाटक की अन्य कथायें इसी मूल कथा को बढ़ाने तथा उसके प्रभाव को तीव्र करने के लिये प्रयुक्त होती हैं। इस मूल कथा का सम्बन्ध नाटक के नायक से रहता है। इस मूल कथा को ही आधिकारिक कथा कहते हैं। राम को चरित्रनायक बनाकर लिखी गयी कथा में राम से सम्बन्धित सभी कथाएँ 'आधिकारिक कथा' कहलायेंगी।

प्रासंगिक कथानक :—प्रत्येक नाटक में मूल कथा के ही साथ प्रासंगिक कथायें भी होती हैं। राम पर कथा लिखी जाय तो राम के सहायतार्थ आने वाले सुग्रीव, हनूमान आदि की कथा तथा राम के विरोध में आने वाले रावण की कथा, प्रासंगिक कथा होगी। प्रासंगिक कथा में उस कथा को पताका कथा कहते हैं जो मुख्य कथा न होते हुए भी नायक के साथ-साथ बढ़ती चली गयी हो। नायक के सहायक को पीठमर्द या पताकानायक कहते हैं और उसके साथ जुटी कथा को पताका कथा कहते हैं। जैसे राम के प्रसंग में सुग्रीव की कथा। प्रकरी कथा भी प्रासंगिक कथा का ही एक रूप है और इसका सम्बन्ध मूल कथा या पताका कथा से कुछ दूर तक रहता है, फिर नष्ट हो जाता है। जटायु, संपाति आदि की कथा प्रकरी कथा है। प्रकरी का अर्थ होता है 'तरंग'। जैसे तरंगें उठकर मिट जाया करती हैं, उसी प्रकार प्रकरी कथायें भी मुख्य कथा के बीच में आती और अपना कार्य करने के बाद समाप्त हो जाती हैं।

कथानक की प्राच्य स्थिति :—शास्त्रीय दृष्टि से कथानक का विश्लेषण करने का अर्थ होता है कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों पर विचार करना। कार्यावस्थायें ५ होती हैं—(१) आरम्भ (२) प्रयत्न (३) प्राप्त्याशा (४) नियताप्ति (५) फलागम। इन्हीं कार्यावस्थाओं से सम्बन्धित ५ अर्थ-प्रकृतियाँ भी होती हैं :—(१) बीज (२) बिन्दु (३) पताका (४) प्रकरी (५) कार्य। कार्यावस्था तथा अर्थ-प्रकृति के संयोग से पाँच संधियाँ बनती हैं :—(१) मुख-सन्धि (२) प्रति-मुख-सन्धि (३) गर्भ-सन्धि (४) विमर्श-सन्धि (५) निर्वहण-सन्धि।

(१) कार्यावस्था :—कार्यावस्था के सम्बन्ध में 'दशरूपक' में कहा गया है :—

'अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः[1] ॥'

आरम्भ-कार्यावस्था :—नाटक के उस अंश को 'आरम्भ' नाम की कार्यावस्था कहते हैं, जिस से कथानक को वास्तविक रूप में गति मिलती है। नाटक में भूमिका के पश्चात् जिस स्थल से कथानक का वास्तविक आरम्भ होता है, उस स्थल को ही 'आरम्भावस्था' कहते हैं। 'दशरूपक' में इस अवस्था के सम्बन्ध में कहा गया है[2]:—

'औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे'

अर्थात् फल-प्राप्ति के लिये उत्कण्ठा मात्र 'आरम्भ' है। 'रत्नावली' नाटक में इस अवस्था की सूचना यौगन्धरायण के मुख से दी गयी है।

प्रयत्नकार्यावस्था :—जिस फल की इच्छा से नाटक का आरम्भ होता है उसकी प्राप्ति का प्रयत्न इस अवस्था के अन्तर्गत मान्य है। 'दशरूपक' में 'प्रयत्न' के सम्बन्ध में कहा गया है[3]:—

'प्रयत्नस्तु तद्प्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः'

अर्थात् फल अप्राप्त होने पर शीघ्रता से किया गया कार्य 'यत्न' है। यथा:—'रत्नावली' में दर्शन की अभिलाषा की पूर्ति के लिये सागरिका द्वारा उदयन के चित्र का आलेखन।

प्राप्त्याशा-कार्यावस्था :—जिस फल की इच्छा से नाटक का आरम्भ होता है, उसकी पूर्ति की आशा जिस स्थान पर फलित होने लगती है उसे 'प्राप्त्याशा' कहते हैं। 'दशरूपक' में 'प्राप्त्याशा' का लक्षण इस प्रकार दिया गया है[4]:—

'उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशाप्राप्तिसम्भवः'

---

१. दशरूपक १।१९ २. दशरूपक १।१९ ३. दशरूपक १।२०

४. दशरूपक १।२०

अर्थात् उपाय और विघ्न दोनों की उपस्थिति से जहाँ फल की प्राप्ति की संभावना होती है, 'प्राप्त्याशा' माननी चाहिये । यथा—रत्नावली नाटक में एक ओर सागरिका का वेष-परिवर्तन सहायक है तो दूसरी ओर वासवदत्ता की उपस्थिति विघ्न-रूप है ।

नियताप्ति–कार्यावस्था :—प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था से प्राप्त आशा जब निश्चय की स्थिति में पहुँच जाती है तो 'नियताप्ति' कहलाती है । नियत फल की प्राप्ति का विश्वास ही 'नियताप्ति है'[1] ।

'अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता'

अर्थात् विघ्न के न रहने पर जब प्राप्ति का निश्चय हो जावे तो 'नियताप्ति' होती है । जैसे:—'चन्द्रावली' में वासवदत्ता को मना कर राजा और सागरिका के समागम का विघ्न समाप्त किया गया है ।

फलागम–कार्यावस्था :—जब निश्चित फल की प्राप्ति हो जाती है, तब 'फलागम' नामक कार्यावस्था की पूर्ति होती है ।

'समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः'[2]

पूर्ण फल की प्राप्ति 'फलागम' है । यथा:—'रत्नावली' में रत्नावली की प्राप्ति ही 'फलागम' है ।

(२) अर्थप्रकृति :—कथानक के उस अंश को 'अर्थप्रकृति' कहते हैं जो कथानकको नाटक की 'कार्यावस्थाओं 'की ओर ले जाने में सहायक होता है । 'अर्थप्रकृति' कारण है और 'कार्यावस्था' कार्य है । नाटक के प्रयोजन की सिद्धि के लिये अर्थप्रकृतियाँ हेतु (कारण) बन कर आती हैं, अतः अर्थप्रकृति के सम्बन्ध में 'दशरूपक' में कहा गया है[3] :—
'अर्थप्रकृतयः=प्रयोजनसिद्धिहेतवः ।'

---

१. दशरूपक १।२१ २. दशरूपक १।२१ ३. दशरूपक १।१८

बीज-अर्थप्रकृति:—उस अंश को 'बीज' अर्थप्रकृति कहते हैं, जहाँ अन्य अर्थप्रकृतियाँ पुष्ट होकर 'कार्य' को पूर्ण करती हैं। 'बीज' अर्थप्रकृति, वह आदिभाव है, जो बढ़कर 'फल' बनता है। जिस प्रकार बीज से अंकुर और तब शाखा-प्रशाखा होकर फल की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार 'बीज'अर्थप्रकृति से अन्य अर्थप्रकृतियों का विकास होता है और अन्त में कार्य की सिद्धि होती है। 'दशरूपक' में 'बीज' की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है[1] :—

'स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा।'

वह हेतु जो कार्य का सिद्धिकारक होते हुये भी आरम्भ में स्वल्प मात्रा में निर्दिष्ट हो व जिससे आगे के प्रयत्न आरम्भ होते हों, 'बीज' है। जैसे:—'चन्द्रावली' नाटिका में 'विष्कम्भक' में ही दैव व यौगन्धरायण की सहायता का परिचय।

बिन्दु-अर्थप्रकृति:—'बिन्दु' को विस्तार का सूचक कहा गया है। जल की सतह पर तेल का बिन्दु जैसे विस्तार पाता है, उसी प्रकार कथा का विस्तार जहाँ लक्षित होता है, उस स्थल पर 'बिन्दु' अर्थप्रकृति का निवास माना जाता है। 'दशरूपक' में 'बिन्दु' का परिचय इस प्रकार दिया गया है[2]:—

'अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्'

अर्थात् कथावस्तु को बढ़ाने वाली अर्थप्रकृति ही 'बिन्दु'अर्थप्रकृति है। यथा:—'चन्द्रावली' नाटिका में अनंग-पूजन के बाद चन्द्रवर्णन के प्रसंग में उदयन का नाम लेकर सागरिका में उदयन के प्रति प्रेम उत्पन्न करना तथा कथा को आगे बढ़ाना।

---

१. दशरूपक १।१६ २. दशरूपक १।१७

पताका-अर्थप्रकृति :—पताकानायक से सम्बन्धित घटनायें एवं कथायें पताका-अर्थप्रकृति के अन्तर्गत स्थान पाती हैं। 'दशरूपक' में पताका-कथा का परिचय इस प्रकार दिया गया है:—'सानुबन्धं पताकाख्यं'[1] अर्थात् सानुबन्ध (प्रधान के साथ दूर तक चलने वाली) कथा को पताका-कथा कहते हैं। जिस स्थान से इस कथा का आरम्भ होता है, उसे पताका-अर्थप्रकृति कहते हैं।

प्रकरी-अर्थप्रकृति :—उन प्रासंगिक कथाओं को 'प्रकरी' कहते हैं, जो कुछ काल के लिये कथानक में दृष्टिगत होती हैं और अपना कार्य कर लेने के बाद समाप्त हो जाती हैं। 'दशरूपक' में कहा गया है:—'प्रकरी च प्रदेशभाक्'[2] अर्थात् वह कथा जो एक प्रदेश में ही सीमित रहती है 'प्रकरी' कहलाती है।

कार्य-अर्थप्रकृति :—जिस प्रयोजन को लेकर नाटक की रचना की जाती है, वह अन्तिम प्रयोजन ही 'कार्य' कहलाता है।

(३) सन्धियाँ :—नाटक में 'रस-निष्पत्ति' के लिये संधियों का विधान किया गया है। सन्धियाँ नाटक के बीच तारतम्य स्थापित करती हैं और कथानक की संश्लिष्टता को शिथिल नहीं होने देतीं। सन्धियाँ पाँच हैं:—(१) मुखसन्धि (२) प्रतिमुखसन्धि (३) गर्भसन्धि (४) विमर्शसन्धि (५) निर्वहणसन्धि। इन सन्धियों की स्थापना कार्यावस्थाओं एवं अर्थप्रकृतियों के संयोग से होती है। अतः 'सन्धि' को समझने के लिये संबन्ध-सूचक निम्नांकित चित्र देखना होगा:—

---

१. दशरूपक १।१३ २. दशरूपक १।१३

सन्धि-निरूपण :—

मुख-सन्धि :—जहाँ आरम्भ नामक कार्यावस्था और बीज नामक अर्थप्रकृति का मिलन होता है, वहाँ 'मुख-सन्धि' बनती है। 'दश-रूपक' में मुखसन्धि के भी बारह भेदों का कथन किया गया है। यहाँ इन सूक्ष्म भेदों का वर्णन करना अपेक्षित नहीं है, अतः उनकी गणना नहीं की जा रही है।

प्रतिमुख-सन्धि :—जहाँ प्रयत्न नामक कार्यावस्था और बिन्दु नामक अर्थप्रकृति का संयोग होता है, प्रतिमुख-सन्धि बनती है। इस सन्धि के भी १२ उपभेद होते हैं। इन उपभेदों की चर्चा अनावश्यक है।

गर्भ-सन्धि :—जहाँ प्राप्त्याशा एवं पताका का मिलन हो कर कार्य-सिद्धि की आशा अपने अनिश्चय की स्थिति में दिखायी पड़ने लगती है, वहीं 'गर्भ-सन्धि' की योजना होती है। पताका और प्राप्ति की आशा के संयोग के आधार पर इस सन्धि के भी बारह रूप माने गये

हैं। कभी-कभी 'पताका' के न रहने पर भी गर्भ-सन्धि हो जाया करती है।

अवमर्श या विमर्शसन्धि :—जहाँ नियताप्ति नामक कार्यावस्था व प्रकरी नामक अर्थप्रकृति संयुक्त होती है, वहाँ 'विमर्शसन्धि' होती है। इस स्थान पर फल-प्राप्ति का निश्चय-सा हो जाता है। 'दशरूपक' में इसके भी १३ भेद किये गये हैं, यथा:—अपवाद, संफेट, विद्रव, द्रव आदि।

निर्वहण-सन्धि :—जब फलागम और कार्य दोनों मिलकर नाटक का अभिप्रेत सिद्ध कर देते हैं, तब निर्वहण-सन्धि होती है। निर्वहण-सन्धि को १४ रूपों में बाँटा गया है:—विबोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषण, पूर्वभाव, उपगूहन, काव्य-संहार, तथा प्रशस्ति।

कथानक की पाश्चात्य स्थिति :—पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र नाटक के कथानक के लिये अर्थप्रकृति और सन्धि का विधान नहीं करता। उसमें केवल कार्यावस्था को ही स्वीकृति मिली है। उसकी दृष्टि से कथानक के बीच छः अवस्थाओं ही को मान्यता मिली है:—
१–Exposition (स्पष्टीकरण) :—कथावस्तु का परिचय स्पष्ट करना। २–Initial incident (आरम्भिक घटनायें) :—नाटक को गति देने वाली आन्तरिक एवं बाह्य संघर्षों से युक्त घटनाओं का सम्मुख आना। ३–Rising action (घटनाओं का उठाव—विकासावस्था) :—घटनाओं का धीरे-धीरे उग्र रूप लेना। ४–Crisis (चरम सीमा) :—उग्र होते हुए घटनाओं का उग्रतम हो जाना। घटनाओं का अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाना। ५—Denoument (निगति या ह्रासावस्था) :—घटनाओं की चरम सीमा के बाद एक पक्ष के विजय और दूसरे के पराजय की आशंका से घटनाओं का शमन की ओर

मुड़ना। ६—Catastrophe (शमन):—कार्य की प्राप्ति और घटनाओं का शमन। इन छः स्थितियों में से प्रथम दो का एकीकरण भी हो सकता है। इस एकीकरण के बाद इन अवस्थाओं की संख्या पाँच हो जावेगी।

(२) कथनोपकथन:—नाटक का दूसरा तत्व है 'कथनोपकथन'। कथनोपकथन ही नाटक का प्राण होता है। नाटककार कथनोपकथन के माध्यम से ही कथा का विकास करता है। चरित्रों के उद्घाटन में भी कथनोपकथन की ही विशेष आवश्यकता रहती है। इसके द्वारा कथावस्तु को स्पष्ट करने का तथा चरित्र-चित्रण का कार्य संपादित किया जाता है। जिस नाटक का कथोपकथन शिथिल होता है, उसका चरित्र-चित्रण और कथावस्तु-विधान भी शिथिल हो जाया करता है। वही कथोपकथन सुन्दर माना जाता है जिससे चरित्र या कथावस्तु का उद्घाटन होता है।

कथोपकथन के द्वारा नाटककार हमें सूच्य एवं प्रकट दोनों ही स्थितियों से अवगत कराता है। सूच्य स्थिति वह स्थिति है जिसे रंगमंच पर दिखाया नहीं जा सकता, पर जिसका परिचय दर्शकों के लिये आवश्यक होता है। प्रकट स्थिति वह स्थिति है जिसे रंगमंच पर दिखलाया जाता है। सूच्य वस्तु की सूचना कथोपकथन के माध्यम से विभिन्न साधनों के द्वारा दी जाती है। इन साधनों को अर्थोपक्षेपक कहते हैं।

अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार का होता है—(१) विष्कम्भक, (२) चूलिका, (३) अङ्कास्य, (४) अङ्कावतार, (५) प्रवेशक।

विष्कम्भक:—नाटक के आरम्भ में या दो अंकों के मध्य में आने वाले उस दृश्य को विष्कम्भक कहते हैं जिसमें कोई दो अप्रधान पात्र पूर्वकाल की अथवा भविष्य की घटनाओं का कथन करते हैं।

चूलिका:—नेपथ्य से जिस बात की सूचना दी जाती है उसे चूलिका कहते हैं। चूलिका वह कथांश है जिसकी सूचना पर्दे के पीछे से दी जाती है।

अंकास्य:—आगामी अंक की कथा की सूचना एक अंक की समाप्ति के बाद देना अंकास्य कहलाता है। इसे ही 'अंकमुख' भी कहते हैं। बीते हुए अंक एवं आने वाले अंक के बीच तारतम्य स्थापित करने के लिये अंकास्य का विधान होता है।

अंकावतार:—अंकास्य में आगामी अंक की सूचना दी जाती है और विगत अंक के पात्र बदल जाते हैं किन्तु अंकावतार में जिस अंक को बदलना है उसी के पात्र अगले अंक में भी आते हैं और वही कथा भी चलती है। इस स्थिति का कथन कर पात्र पर्दे के पीछे चले जाते हैं और फिर अंक बदलने पर रंगमंच पर आ जाते हैं।

प्रवेशक:—प्रवेशक और विष्कम्भक में बहुत थोड़ा-सा अन्तर है। जब नाटक के आरम्भ और दो अंक के मध्य में अप्रधान पात्रों से विगत या आगत घटनाओं का कथन कराया जाता है तो विष्कम्भक होता है। जब केवल दो अंकों के मध्य में निम्न श्रेणी के पात्रों से विगत या आगत घटनाओं का कथन कराया जाता है तो प्रवेशक होता है। 'प्रवेशक' में पात्र अप्रधान ही नहीं निम्न भी होते हैं और यह सूचना दो अंक के मध्य में ही दी जाती है।

रंगमंच पर प्रकट रूप में जिन स्थितियों का परिचय दिया जाता है उनके लिये भी कथोपकथन का ही आश्रय लेना पड़ता है। कथोपकथन दो प्रकार के होते हैं:—१–नाटकीय, २–विश्लेषणात्मक। नाटकीय कथोपकथन वह कथोपकथन है जिसमें पात्रों के द्वारा ही सब बातें कहलायी जाती हैं। विश्लेषणात्मक कथोपकथन के द्वारा लेखक

स्वयं कुछ कहता दिखलायी पड़ता है। नाटक में विश्लेषणात्मक कथोपकथन को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। केवल नाटकीय कथोपकथन ही नाटक में ग्राह्य है। नाटकीय कथोपकथन भी तीन प्रकार के होते हैं—१–सर्वश्राव्य, २–अश्राव्य, ३–नियतश्राव्य।

सर्वश्राव्य:—उस कथोपकथन को सर्वश्राव्य माना जाता है जो रंगमंच पर सबके सुनने के लिये कहा जाता है। अभिनेता और दर्शक सभी उसे सुनते हैं।

अश्राव्य:—उस कथोपकथन को अश्राव्य की संज्ञा मिलती है जो रंगमंच पर इस उद्देश्य से कहा जाता है कि दर्शक उसे सुन लें किन्तु अभिनेताओं में कोई भी न सुन सके। 'स्वगत' या आकाश-भाषित (आकाश की ओर मुँह करके कुछ कहना, जिससे ज्ञात हो कि अन्य पात्र नहीं सुन रहे हैं) अश्राव्य कथोपकथन है।

नियतश्राव्य:—जब रंग-मंच पर कथोपकथन इस दृष्टि से उपस्थित किया जाता है कि उसे कुछ लोग ही सुन सकें सभी नहीं, अर्थात् अभिनेताओं में से कुछ सुनें और कुछ नहीं, तो ऐसे कथोपकथन 'नियतश्राव्य' कहलाते हैं।

कथोपकथन की दृष्टि से सर्वश्राव्य कथोपकथन ही महत्त्वपूर्ण है। अश्राव्य या नियतश्राव्य कथोपकथन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अस्वाभाविक लगते हैं।

(३) चरित्र-चित्रण :—चरित्र-चित्रण की दो पद्धतियाँ हैं—वर्गगत और व्यक्तिगत। वर्गगत चरित्र-चित्रण करते समय लेखक चरित्र को समाज के किसी वर्ग का प्रतिनिधि बनाकर मंच पर उतारता है। ऐसे चरित्र में अपने वर्ग के सभी गुणों की प्रतिष्ठा रहती है। दस्युजीवन का परिचय देने वाले दस्यु का चरित्र सामने

रखकर लेखक वर्गगत चरित्र ही सामने रखता है। इसके विपरीत व्यक्तिगत चरित्र में वर्ग का प्रतिनिधित्व न होकर अपने मौलिक गुण का प्रतिनिधित्व होता है। चरित्र-चित्रण करते समय लेखक को पात्र पर भी ध्यान देना पड़ता है। नाटक के पात्र, नायक की दृष्टि से चार प्रकार के माने गये हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीरललित, (३) धीरप्रशान्त, (४) धीरोद्धत। इन चारों प्रकार के नायकों में से जिसे नाटककार नायक बनाता है, उसके गुणों को अपने चरित्र-चित्रण में स्थान देता है। अतः इन नायकों के गुण की जानकारी आवश्यक है।

धीरोदात्त नायकः—धीरोदात्त नायक को महासत्व होना आवश्यक होता है। अर्थात् उसका अन्तःकरण शोक, क्रोध, भय आदि विकारों से मुक्त होता है। वह अतिगम्भीर, क्षमावान्, सहनशील, स्थिरबुद्धि, अहंकारशून्य, धैर्यवान् तथा दृढ़व्रती होता है। इन्हीं गुणों से युक्त धीरोदात्त नायक के सम्बन्ध में कहा गया है:—

'महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः॥'[१]

यथा—राम, युधिष्ठिर आदि।

धीरललितः—धीरललित नायक का लक्षण इस प्रकार है:—

'निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः।'[२]

अतः धीरललित नायक कोमल स्वभाव वाला, सुख-परायण, कला-निपुण, धैर्यवान्, निश्चिन्त व्यक्ति होता है। महाराज उदयन धीरललित नायक हैं।

---

१. दशरूपक (२।४, ५)   २. दशरूपक (२ ३)

धीरप्रशान्त :—धीरप्रशान्त नायक में धैर्य एवं शान्त स्वभाव का विशेष गुण वर्तमान रहता है। शान्ति की भावना होने के कारण क्षत्रिय लोग धीरप्रशान्त नहीं हो सकते। अतः मुख्यतः ब्राह्मण या वैश्य ही धीरप्रशान्त नायक के गुण से सम्पन्न होते हैं। धीरललित के गुणों के साथ ही शान्ति की भी योजना धीरप्रशान्त में हुआ करती है। लक्षण इस प्रकार है:—

'सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः।'[1]

धीरोद्धत :—दर्प, मात्सर्य, छल, अहंकार, दम्भ, चाञ्चल्य एवं क्रोध से पूर्ण नायक को धीरोद्धत नायक की संज्ञा मिलती है। ऐसे नायक के सम्बन्ध में कहा गया है:—

'दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाछद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥'[2]

यथा परशुराम, मेघनाथ आदि।

नाटक में नायक के अतिरिक्त पताकानायक, पीठमर्द और प्रतिनायक भी होते हैं। नायक के साथ जो बराबर रहता है उसे पताकानायक कहते हैं। नायक के मुख्य सहायक को पीठमर्द कहते हैं। नायक के विरुद्ध रहने वाले मुख्य व्यक्ति को प्रतिनायक कहते हैं। भारतीय सिद्धान्त की दृष्टि से प्रतिनायक धीरोद्धत होता है। यथा:— राम यदि नायक हैं तो रावण प्रतिनायक है।

नाटक के पात्रों में विदूषक भी होते हैं। पाश्चात्य देश में विदूषक को Clown कहते हैं। प्राच्य दृष्टि से विदूषक वह पात्र है जिसके माध्यम से हास्य की सृष्टि की जाती है। विदूषक के द्वारा

---

१. दशरूपक (२।४) २. दशरूपक (२।५, ६)

विभिन्न वस्तु-स्थितियों पर व्यंग कराया जाता है। यह राजा का विश्वासपात्र, प्रेम व्यापार में सहायक एवं मनोरंजनकर्ता होता है। इसे अन्तःपुर में भी जाने की आज्ञा रहती है।

श्रृंगार की दृष्टि से नायक चार प्रकार के होते हैं। पूर्वोक्त नायकों में प्रत्येक में श्रृङ्गार की इन अवस्थाओं को यदि देखा जावे तो नायक सोलह प्रकार के हो जावेंगे। श्रृङ्गार की चार अवस्थाओं के आधार पर नायक दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल हुआ करते हैं। दक्षिण नायक वह नायक है जो परनायिका से आकृष्ट होने पर भी अपनी नायिका के प्रति सहृदयता रखता है। शठ नायक परनायिका से आकृष्ट होकर स्वनायिका के प्रति सहृदय नहीं रहता। धृष्ट नायक के अङ्ग पर व्यक्त रूप से परनायिकासमागम के द्वारा कृत विकार लक्षित होते हैं। वह अपनी नायिका के प्रति असहृदय होकर शठ भी होता है। अनुकूल नायक वह नायक है जिसके एक ही नायिका होती है और जो किसी अन्य के द्वारा अपहृत नहीं होता।

नाटक में नायक की तरह ही नायिका का भी चरित्र-चित्रण आवश्यक होता है। नायिका के भी विभिन्न भेद हैं और कथानक के

नायिका-विचार

उपयुक्त नायिका को नाटककार उसके विभिन्न गुणों के आधार पर नाटक में अवतरित करता है। नायिका के मुख्यतः तीन रूप देखने को मिलते हैं— (१) स्वकीया (२) परकीया (३) साधारण स्त्री।

स्वकीया नायिका :—स्वकीया नायिका में–शील और सरलता— दो गुणों का समावेश होता है। शील के ही कारण वह सदाचारिणी, पतिव्रता, कुटिलतारहित, लज्जावती और पतिसेवापरायण होती है। स्वकीया नायिकायें भी तीन प्रकार की होती हैं—(१) मुग्धा :—

नवीन आयु तथा नवीन कामना वाली उस नायिका को मुग्धा कहते हैं जो रति में प्रतिकूलता दिखलावे और क्रोध में कोमल हो। उसकी रति में प्रतिकूलता भी अनुराग उत्पन्न करने वाली होती है। (२) मध्या :– वह नायिका जिसका यौवन और काम वृद्धि को प्राप्त हो रहा हो और जो अन्त में मोहयुक्त सुरत में समर्थ हो, मध्या नायिका है। (३) प्रगल्भा नायिका वह नायिका है जिस पर यौवन का मद अधिक हो, जो यौवन के मद से विक्षिप्त हो, प्रिय के आलिङ्गन को व्याकुल हो और केलि के पूर्व ही आनन्दातिरेक से बेहोश हो जावे।

परकीया नायिका:—परकीया नायिका वह नायिका है जो दूसरों के अधीन रहे। परकीया के दो भेद हैं—(१) कन्या—कुमारी कन्या परकीया होती है क्योंकि वह अपने पिता के संरक्षण में रहने के कारण सुविधापूर्वक प्रिय से मिलने में असमर्थ होती है। (२) नवोढ़ा—अपने पति के अतिरिक्त अन्य से सम्बन्ध रखने वाली नायिका को नवोढ़ा कहते हैं।

साधारण स्त्री :—गणिका या वेश्यावृत्ति करने वाली नायिका को साधारण स्त्री कहा गया है। ये धन के लोभ से गुप्त रूप से काम को शान्त करने की इच्छा रखने वालों का काम शान्त करतीं हैं।

नायिकाभेद का एक दूसरा आधार भी है और इस आधार पर नायिकायें ८ अवस्थाओं में बाँटी गयी हैं—(१) स्वाधीनपतिका (२) वासकसज्जा (३) विरहोत्कण्ठिता (४) खण्डिता (५) कलहान्तरिता (६) विप्रलब्धा (७) प्रोषितप्रिया (८) अभिसारिका। स्वाधीन पतिका का पति उसके पास ही रहता है और उसके अधीन रहता है। वासकसज्जा अपने पति की प्रतीक्षा में अपना शृङ्गार करती रहती है। विरहोत्कण्ठिता अपने प्रिय की अपहृतावस्था को न जानकर

उसके विलम्ब से आने पर प्रतीक्षा में उत्कण्ठित रहती है। खण्डिता नायिका को अपने प्रिय के परसहवास की सूचना रहती है और इससे उसमें ईर्ष्या रहती है। कलहान्तरिता अपने क्रोध से नायक का प्रत्याख्यान करती है और बाद में पश्चात्ताप करती है। विप्रलब्धा अपमानित नायिका होती है। वह संकेत-स्थल पर जाती है पर उसका प्रिय वहाँ वचन देकर भी नहीं आया रहता। प्रोषितपतिका का प्रियतम किसी कार्यवश परदेशी हो गया रहता है। अभिसारिका कामपीड़ित होकर स्वयं प्रिय से मिलने जाती है या प्रियतम को अपने पास बुलवा लेती है।
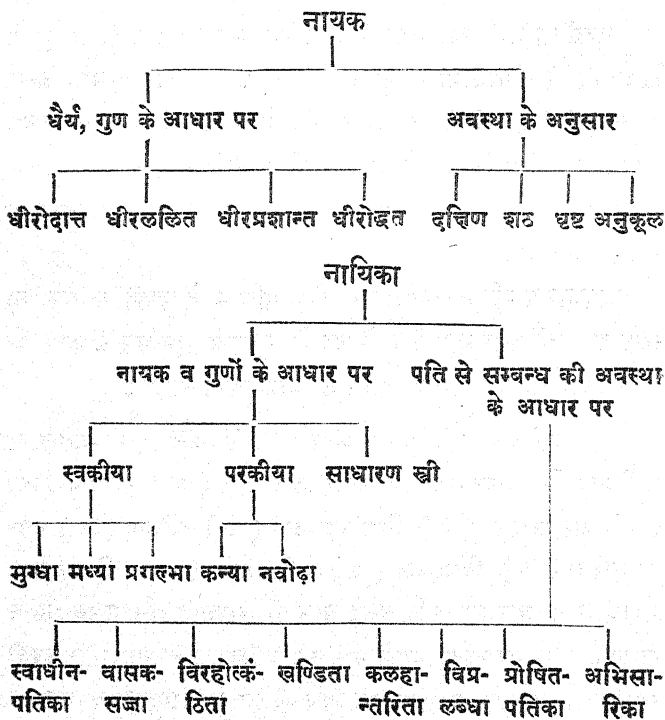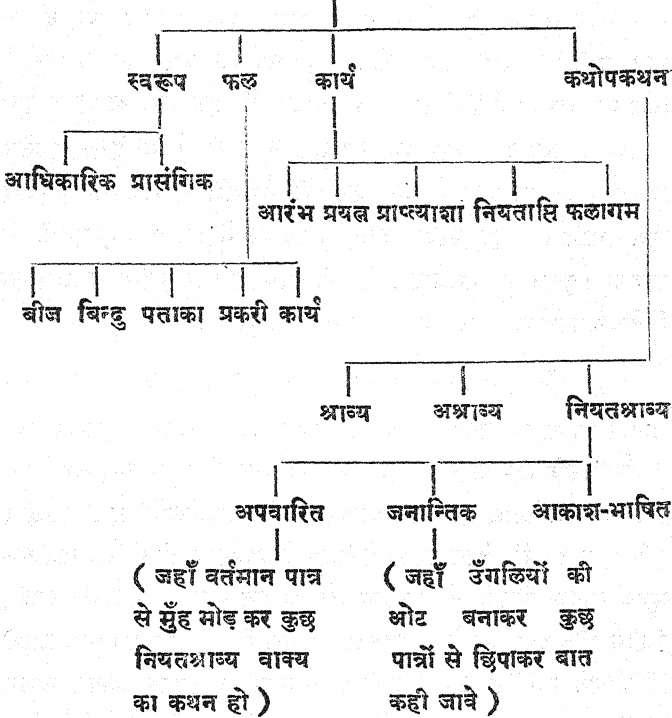
(४) देश, काल, कार्य की एकता :—पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार Three unities की आवश्यकता नाटक के लिये मानी गयी है। इसे हमारे यहाँ 'सङ्कलनत्रय' की संज्ञा दी गयी है। सङ्कलनत्रय में देश की एकता, काल की एकता और कार्य की एकता का समन्वय है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन एकताओं की बड़ी आवश्यकता होती है। देश की एकता का अर्थ है, नाटक में एक देश का ही कथन होना। कई देश में घटनाओं का घटित होना नाटक की प्रभावान्विति को नष्ट

करता है। अतः देश एक होना चाहिये। काल की एकता का अर्थ है—नाटक में प्रदर्शित घटना इतने समय की हो कि वह दो या तीन घण्टे में समाप्त हो सके। ५० वर्ष की बात को ३ घण्टे में दिखाना सम्भव नहीं होता, अतः नाटक में इस बात का ध्यान देना आवश्यक होता है। कार्य की एकता का अर्थ होता है—अभिनेय कथावस्तु का एक होना। इस दृष्टि से प्रासंगिक-कथाओं का अल्पतर होना नाटक का गुण माना जावेगा। नाटक में इन तीन एकताओं की भावना यूनान के नाट्यशास्त्र से ली गयी है। भारतीय नाट्यशास्त्र में केवल कार्य की एकता पर ही ध्यान दिया गया है।

(५) उद्देश्य :—पाश्चात्य और प्राच्य दृष्टि से नाटक के मूल में उद्देश्य तत्व का होना आवश्यक होता है। नाटक को पाँचवा वेद माना गया है और उसके माध्यम से शूद्रों तक को ज्ञान देने की बात कही गयी है। अतः प्रतिपाद्य ज्ञान ही नाटक का उद्देश्य कहलाता है। पाश्चात्य दृष्टि से नाटक में उद्देश्य का होना नितान्त आवश्यक होता है। समस्या-मूलक नाटक लिखने वाले उद्देश्य को ही प्रधानता देते हैं। गाल्सवर्दी, इब्सन और बर्नर्ड शा के प्रभाववश हिन्दी में भी समस्यामूलक नाटक लिखे जाने लगे हैं। इन नाटकों में समस्या ही उद्देश्य बनकर सामने आती है। उद्देश्य के आधार पर ही नाटक में दुखान्त और सुखान्त की भावना का प्रादुर्भाव हुआ है।

ट्रेजडी और कामेडी :—हिन्दी में 'ट्रेजडी' के लिये दुःखान्त और 'कामेडी' के लिये सुखान्त शब्द का व्यवहार होता है। नाटक के अन्त की दृष्टि से नाटक दुःखान्त और सुखान्त दो प्रकार का होता है। दुःखान्त नाटक वह नाटक है जिसका अन्त दुःखद हुआ करता है। दुःखद अन्त का अर्थ होता है नाटक को दुःखमय स्थिति में

छोड़ देना। नाटक के अन्त में नायक का पराजय दिखाकर ही यह दुःख की स्थिति उत्पन्न की जाती है। इसके विपरीत नाटक का अन्त जब सुखद होता है और अन्त में नायक को विजय मिलती है तो नाटक सुखान्त कहलाता है। भारतीय मत के अनुसार नाटक का दुःखान्त होना दोषपूर्ण होता है, अतः नाटक को हमेशा सुखान्त ही होना चाहिए। इस मत के परिचायकों का कहना है कि नाटक का नायक 'सत्' का प्रतीक होता है और उसका पराजय दिखाना 'असत्' को उत्साहित करना है, अतः पराजय नहीं जय ही दिखानी चाहिए। इसी दृष्टि से भारतीय शास्त्र का आधार लेकर जितने भी नाटक लिखे गये हैं सुखान्त हैं। इस मत के विरुद्ध पाश्चात्य सिद्धान्तवादियों का मत है। उनके अनुसार नाटक को दुःखान्त होना चाहिये। अरस्तू ने Catharisis का सिद्धान्त देकर दुखान्त-नाटकों का समर्थन किया है। उसका कहना है कि दुःखान्त नाटकों को देखकर हम दुखी होते हैं और कभी-कभी रो भी पड़ते हैं। इससे हमारा मन शुद्ध होता है और विकार धुलता है। अतः मन की शुद्धि के लिये दुखान्त नाटक आवश्यक है। दुःखान्त नाटकों के पक्ष में दूसरा तर्क भी है। दुःखान्त नाटक को देखते समय जब हम नायक को हारते देखते हैं तो प्रतिनायक पर हमारा क्रोध उमड़ता है और प्रतिनायक के दुष्टतापूर्ण कार्यों से हमें घृणा होने लगती है। इस प्रकार हमारी आत्मा में नैतिकता जागती है। दुःखान्त को अधिक मनोवैज्ञानिक मानकर भारतीय नाटककारों ने भी आज स्वीकार कर लिया है। भारतेन्दुजी के 'भारतदुर्दशा' में दुःखान्त स्थिति का ही पोषण हुआ है। नाटक में कथावस्तु पर मूल रूप में ध्यान देना चाहिए। नाटक की दुःखान्त और सुखान्त स्थिति मुख्य नहीं है, मुख्य है कथावस्तु। कथावस्तु की आकांक्षा से नाटक यदि दुःखान्त हो तो भी श्रेष्ठ है, सुखान्त हो तो भी।

दृश्य काव्य का भेद :—भारतीय दृष्टि से दृश्य काव्य को मुख्यतः दो भागों में बाँटा गया है। १-रूपक २-उपरूपक। रूपक के १० भेद तथा उपरूपक के १८ भेद माने गये हैं। इन भेदों को समझने के लिये इस चित्र पर ध्यान देना आवश्यक है:—

दृश्य काव्य

रूपक

नाटक प्रकरण भाण व्यायोग समवकार डिम ईहामृग अंक बीथी प्रहसन

उपरूपक

नाटिका त्रोटक गोष्ठी सट्टक नाट्यरासक प्रस्थानक उल्लाप्य काव्य प्रेङ्खण रासक संलापक श्रीगदित शिल्पक विलासिका दुर्मल्लिका प्रकरणिका हल्लीस भाणिका
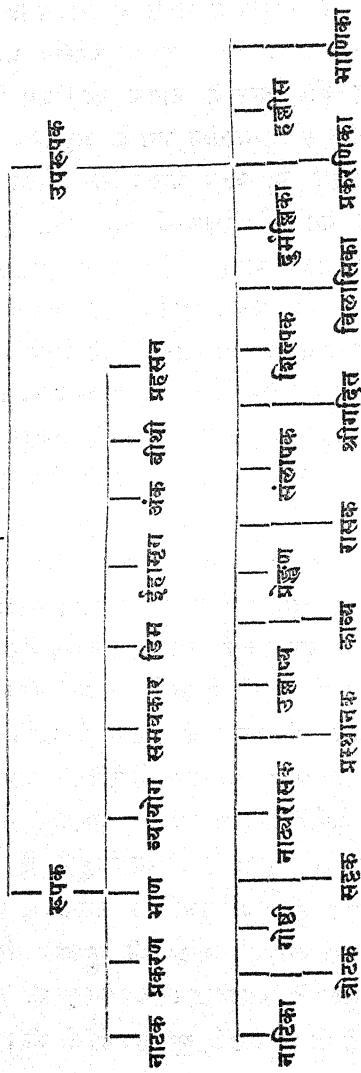
रूपक और उपरूपक के विभिन्न भेदों का कथन नाट्य-शास्त्र में किया गया है किन्तु आज नाटक के इतने रूप नहीं दिखलायी पड़ते। उपरूपक के भेद में से नाटिका, नाट्य-रासक आदि का प्रणयन भी हिन्दी-साहित्य में हुआ है। भारतेन्दुकृत 'चन्द्रावली' नाटिका है, और 'भारत-दुर्दशा' नाट्य-रासक।

नाटक :—नाटक का प्रयोग आज सभी नाट्य सम्बन्धी कृतियों के लिए किया जाने लगा है, किन्तु अपने मूल रूप में नाटक रूपक का वह भेद है जिसमें कोई धीरोदात्त प्रकृति का राजा नायक होता है, वीर या श्रृंगार रस की प्रधानता रहती है, प्रख्यात कथानक रहता है, पांचों अर्थ-प्रकृतियाँ, कार्यावस्थायें और सन्धियाँ होती हैं; तथा कम से कम पाँच अंक होते हैं।

प्रकरण :—रूपक के उस भेद को प्रकरण कहते हैं जिसमें धीर-प्रशान्त नायक को महत्त्व मिलता है, श्रृंगार रस होता है, उत्पाद्य कथा-वस्तु होती है, पाँचों अर्थप्रकृति, कार्यावस्था और सन्धि होती है, और कम से कम पाँच अंक होते हैं।

भाण :—भाण रूपक का वह भेद है जिसमें एक ही पात्र आकाश की ओर देखकर कथोपकथन करता है। उसका कथोपकथन आकाश-भाषित की तरह होता है। इसमें एक ही अंक होता है। इस प्रकार के रूपक में धूर्तों का चरित्र दिखाकर हास्य की सृष्टि की जाती है। यथा:—भारतेन्दुकृत—'विषस्य विषमौषधम्'।

व्यायोग :—उस रूपक को व्यायोग की संज्ञा मिलती है जिसमें स्त्री पात्रों की न्यूनता होती है, किन्तु पुरुष पात्र अधिक होते हैं। इसका कथानक प्रख्यात होता है। इसमें एक ही अंक होता है। धीरोद्धत नायक की प्रतिष्ठा से युद्ध दिखाया जाता है। यथा :—भारतेन्दुकृत 'धनञ्जयविजय'।

समवकार :—रूपक का वह भेद 'समवकार' कहलाता है जिसमें युद्ध हो, देवों तथा असुरों की कथा हो, अधिक से अधिक बारह

नायक हों और अलग-अलग फल पाते हों। इसमें ३ अंक होता है तथा विमर्श सन्धि और बिन्दु अर्थप्रकृति का अभाव रहता है। यथा:—संस्कृत का 'अमृतमंथन'।

डिम :—समवकार में १२ नायक हो सकते हैं किन्तु 'डिम' में नायकों की संख्या १६ तक हो सकती है। रौद्र रस की प्रधानता के साथ माया, इन्द्रजाल आदि का प्रयोग 'डिम' के अन्दर मान्य है। अंक की दृष्टि से इसमें चार अंक होते हैं। श्रृंगार और हास्य का निषेध है। यथा:—संस्कृत का 'त्रिपुरदाह'।

ईहामृग :—ईहामृग की कथा प्रख्यात और उत्पाद्य दोनों ही अर्थात् मिश्रित होती है। चार अंकों में कथानक विभाजित रहता है। नायिका की प्राप्ति के लिये नायक इच्छुक होता है। प्रतिनायक नायिका का अपहरण करना चाहता है। नायक-प्रतिनायक में युद्ध भी हो सकता है, किन्तु आवश्यक नहीं है। नायक-प्रतिनायक दोनों ही धीरोद्धत होते हैं।

अंक :—प्रख्यात कथा से पूर्ण, करुण रस से युक्त उस एकांकी को 'अंक' कहते हैं जिसमें साधारण पुरुष होते हैं, स्त्रियों का विलाप होता है।

वीथी :—वीथी भाण की तरह का एक एकांकी है, जिसमें एक ही नायक होता है जो किसी भी कोटि का हो सकता है। आकाश-भाषित वीथी का मूल तत्त्व है और श्रृंगार मूल रस है।

प्रहसन :—कविकल्पित कथा से पूर्ण उस एकांकी को प्रहसन की संज्ञा मिलती है जिसमें हास्यरस की प्रधानता रहती है। यथा—भारतेन्दुकृत 'अन्धेरनगरी'।

रूपकभेदसारिणी :—

संख्या	रूपक के भेद	पात्र	नायक	रस	अंक	कथानक	कथोप कथन
१	नाटक	—	धीरोदात्त, राजा	वीर या शृंगार	५	प्रख्यात	सामान्य
२	प्रकरण	—	धीर प्रशांत मंत्री पुत्र, ब्राह्मण, वणिक	शृंगार	५	उत्पाद्य	सामान्य
३	भाण	एक पात्र	—	हास्य	एक	धूर्तों का परिचय	आकाश-भाषित
४	व्यायोग	पुरुष अधिक, नारी कम	धीरोद्धत	वीर	एक	प्रख्यात	सामान्य
५	समवकार	देवासुर	१२ नायक	वीर	तीन	प्रख्यात	सामान्य
६	डिम	—	१६ नायक	रौद्र	चार	शृंगार हास्य का निषेध; माया, इन्द्र जाल का कथन	सामान्य
७	ईहामृग	—	धीरोद्धत	वीर	चार	प्रख्यात या उत्पाद्य या मिश्रित	सामान्य
८	अंक	—	साधारण पुरुष	करुण	एक	प्रख्यात	स्त्री-विलाप का आधिक्य
९	वीथी	एक पात्र	१ नायक किसी कोटिका	शृंगार	एक	—	आकाश-भाषित
१०	प्रहसन	—	—	हास्य	एक	उत्पाद्य	सामान्य

उपरूपक-भेद-निरूपण :—शालिग्रामशास्त्री कृत 'साहित्यदर्पण' की व्याख्या में उपरूपकों का परिचय इस प्रकार है :—

नाटिका :—कथा कविकल्पित अर्थात् उत्पाद्य होती है। स्त्रियाँ अधिक होती हैं। ४ अंक होते हैं और नायक प्रसिद्ध धीरललित राजा होता है। नायिका राजवंश से सम्बन्धित संगीतप्रिय कन्या होती है। महारानी पद-पद पर मान करती है और नायक-नायिका का समागम इसी महारानी के अधीन होता है जो प्रगल्भा नायिका होती है। विमर्शसन्धि की अल्पता या शून्यता रहती है और कैशिकी वृत्ति होती है। जैसे संस्कृत 'रत्नावली' में।

त्रोटक :—सात, आठ, नौ अथवा पाँच अंकों से युक्त, देवता और मनुष्यों के आश्रित दृश्य काव्य को 'त्रोटक' कहते हैं। त्रोटक में शृङ्गार रस की प्रधानता रहती है और हर अंक में विदूषक रहता है।

गोष्ठी :—नौ या दस प्राकृत पुरुषों से युक्त, उदात्त वचनों से रहित, कैशिकी वृत्तिवाली रचना गोष्ठी होती है। इसमें गर्भ व विमर्श सन्धि नहीं होती, ५-६ स्त्रियाँ होती हैं, शृङ्गार का भाव रहता है और एक अंक होता है।

सट्टक :—जिसकी सम्पूर्ण रचना प्राकृत में ही हो, जहाँ प्रवेशक व विष्कम्भक न हों और अद्भुत रस की प्रचुरता हो, वह 'सट्टक' होता है। इसके अंकों का नाम जवनिका होता है। शेष नाटिका-सदृश, यथा :— 'कर्पूरमंजरी'-संस्कृत में।

नाट्यरासक :—इसमें एक अङ्क होता है, लय और ताल की अधिकता रहती है, नायक उदात्त होता है और उपनायक पीठमर्द। शृङ्गार के साथ अङ्गी रूप में हास्यरस की योजना रहती है। नायिका वासक-

सज्जा होती है। मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। यथा 'नर्मवती'– संस्कृत में, अथवा भारतेन्दुकृत 'भारतदुर्दशा'।

प्रस्थानक :—दास वृत्ति का नायक और हीन उपनायक होता है। दासी नायिका होती है। सुरापान के संयोग से उद्देश्य की पूर्ति होती है। लय, ताल आदि की अधिकता के साथ इसमें दो अङ्क होते हैं।

उल्लाप्य :—दिव्य कथा, धीरोदात्त नायक और एक अङ्क से पूर्ण वह रचना है जिसमें हास्य, श्रृङ्गार और करुण रस हों। इसमें चार नायिकायें होती हैं, गीत अधिक होते हैं। यथा—'देवीमहादेव' संस्कृत में।

काव्य :—मुख, प्रतिमुख व निर्वहण सन्धि तथा उदात्त नायक और उदात्त नायिका से पूर्ण वह रचना है जिसमें एक अङ्क, हास्यरस, द्विपादिका और भग्नताल नामक गीत आदि होते हैं और जिसमें 'आरभटी' वृत्ति नहीं होती। यथा—'यादवोदय' संस्कृत में।

प्रेङ्खण :—एक अङ्क की वह रचना है जिसमें सूत्रधार, विष्कम्भक व प्रवेशक नहीं होते तथा गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होतीं। इसमें नायक हीन कोटि का होता है, नान्दी और प्ररोचना नेपथ्य में पढ़ी जाती है। यथा—'बालिवध' संस्कृत में।

रासक :—इसमें पाँच पात्र होते हैं, मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं, एक अङ्क होता है और सूत्रधार नहीं होता। नायक मूर्ख और नायिका प्रसिद्ध होती है तथा 'नान्दी' श्लिष्ट हुआ करती है। यथा—'मेनकाहित' संस्कृत में।

संलापक :—तीन या चार अङ्क से पूर्ण वह रचना है जिसमें नायक पाखण्डी होता है। इसमें श्रृङ्गार और करुण से भिन्न रस होता है तथा छलयुक्त संग्राम की योजना होती है। यथा—'मायाकापालिक' संस्कृत में।

श्री गदित :—प्रसिद्ध कथा से सम्पन्न, एक अङ्क से पूर्ण, प्रसिद्ध धीरोदात्त नायक से युक्त, प्रख्यात नायिका वाला उपरूपक 'श्रीगदित' कहलाता है। इसमें गर्भ व विमर्श सन्धि लुप्त रहती है।

शिल्पक :—चार अङ्क की वह रचना, जिसमें नायक ब्राह्मण हो, शान्त और हास्य रस वर्जित हो, श्मशानादि का वर्णन हो और हीन पुरुष उपनायक हो 'शिल्पक' कहलाती है। यथा 'कनकवती-माधव' संस्कृत में।

विलासिका :—थोड़ी कथा, सुन्दर वेश, हीन नायक से युक्त उस रचना को 'विलासिका' कहते हैं जिसमें एक अङ्क हो, शृङ्गार की बहुलता हो और जो विदूषक, पीठमर्द और विट से विभूषित हो, तथा जिसमें गर्भ और विमर्श सन्धि न हो।

दुर्मल्लिका :—इसमें चार अङ्क होते हैं, गर्भ सन्धि नहीं होती। नर सभी चतुर होते हैं और नायक छोटी जाति का होता है। विट, विदूषक और पीठमर्द होते हैं। यथा—'बिन्दुमती' संस्कृत में।

प्रकरणिका :—नायक सेठ हो और नायिका उसकी सजातीय हो तो 'प्रकरणिका' होगी।

हल्लीश :—मुख-निर्वहण सन्धियों तथा ताल-लय से युक्त वह उपरूपक है जिसमें एक अङ्क होता है; सात, आठ या दस स्त्रियाँ होती हैं और उदात्त वचन बोलने वाला एक पुरुष होता है। यथा—'केलिरैवतक' संस्कृत में।

भाणिका :—इसमें नायिका उदात्त व नायक मन्द होता है। एक अङ्क, मुख व निर्वहण सन्धि तथा सुन्दर 'नेपथ्य' होता है। यथा—'कामदत्ता' संस्कृत में।

हिन्दी-साहित्य में नाटकों की 'विकास-दिशा' का परिचय देने के लिये मैं श्री सोमनाथ गुप्त कृत 'हिन्दी-नाटकसाहित्य का इतिहास' का आश्रय लेना उचित समझता हूँ। गुप्तजी ने अपनी इस पुस्तक में हिन्दी-साहित्य में नाटक का इतिहास दिखलाते हुये बतलाया है कि हिन्दी नाटकों के पाँच उत्थान काल हैं

हिन्दी में नाटकों का विकास

(१) १६४३ से १८६६ ई०—आरम्भकाल (२) १८६७ से १९०४ ई०—विकासकाल या भारतेन्दुयुग (३) १९०५ से १९१५ ई०—सन्धिकाल (४) १९१५ से १९३३ ई० प्रसादयुग (५) १९३३ से १९४२ ई० (किन्तु मैं उसे अब तक मानूँगा)—प्रसादोत्तरकाल।

(१) आरम्भकाल :—नाटकों के आरम्भकाल में दो प्रकार के नाटकों की रचना हुई—(१) साहित्यिक (२) रंगमञ्चीय। ये दो धारायें आज भी नाटक के क्षेत्र में विराजमान हैं। कुछ नाटक विशुद्धतः काव्यत्व से भरपूर रहते हैं और कुछ में केवल रंगमञ्च का ध्यान रहता है।

साहित्यिक नाटकों में कुछ अनुवादस्वरूप थे और कुछ मूल। इस क्षेत्र की पहली पुस्तक थी, जोधपुरनरेश महाराज जसवन्त सिंह जी द्वारा अनूदित 'प्रबन्धचन्द्रोदय' नाटक। लगभग १७०० ई० के रीवाँनरेश श्री विश्वनाथ सिंह जू का मौलिक साहित्यिक नाटक 'आनन्दरघुनन्दन' देखने को मिला। इनकी लिखी हुई दूसरी नाटक की पुस्तक है 'गीता-रघुनन्दन'। इसी परम्परा में आगे चलकर राजा लक्ष्मण सिंह कृत 'शकुन्तला' तथा श्री गोपालचन्द्र (भारतेन्दु के पिता) कृत 'नहुष' की रचना हुई।

इस काल के नाटकों में मूल नाटक, संस्कृत नाटकों की परम्परा पर लिखे गये और अनुवाद तो अनुवाद थे ही।

रंगमञ्चीय नाटकों की दृष्टि से इस आरम्भकालीन नाटकों में सैय्यद आगा हसन 'अमानत' कृत 'इन्दर-सभा' का विशेष नाम है। यह उर्दू का गीतिनाट्य है। उसकी भाषा उर्दू-हिन्दी मिश्रित है। इसके बाद मदारीलाल कृत 'इन्दर-सभा' की रचना हुई। इसमें भी गीतिनाट्य का ही तत्त्व था। इन गीति-नाट्यों की परम्परा रासलीलाओं से विकसित हुई है। ये रासलीलायें पूर्वकाल से ही विभिन्न त्योहारों पर होती रही हैं। रासलीलाओं की परम्परा देखने पर लगता है कि उनका आरम्भ १५३१ के पूर्व से नहीं है क्योंकि रासलीलाओं में महाप्रभु वल्लभाचार्य की स्तुति होती है और उनका काल १४७९ से १५३१ माना जाता है। रासलीला के बाद रामलीलाओं का भी प्रचलन हुआ और उसी परम्परा में गीति-नाट्य रूपी रङ्गमञ्चीय नाटकों का श्रीगणेश भी हुआ।

(२) विकासकाल—भारतेन्दुयुग :—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का नाटक-रचनाकाल १८६७ से १८८५ ई० मान्य है किन्तु उनके मण्डल में आने वाले अन्य नाटककारों ने १९०४ तक रचनायें कीं। अतः भारतेन्दुयुग के रूप में हम १८६७ से १९०४ तक के युग की गणना करते हैं। इस युग में नाटकों में विकास उपस्थित हुआ। नाटक मौलिक रूप में भी लिखे गये और अनुवाद रूप में भी। भारतेन्दुजी द्वारा अनूदित नाटकों का उल्लेख इस प्रकार है:—रत्नावली नाटिका (१८६८), पाखण्डविडम्बना (१८७२), धनंजयविजय (१८७३), कर्पूरमंजरी, मुद्राराक्षस (१८७८), दुर्लभबन्धु (१८८० ई०)—इन अनुवादों में भारतेन्दु जी ने नाटक की आत्मा को सुरक्षित रखने का सफल प्रयास किया है। अनुवाद के अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने कुछ नाटकों का रूपान्तर भी किया है:—विद्यासुन्दर (१८६८ ई०),

सत्य हरिश्चन्द्र (१८७४ ई०)—इन रूपान्तरित नाटकों में अनुवाद अंश कम है लेखक की मौलिकता अधिक है। इन नाटकों में मौलिकता और अनुवाद तत्त्व दोनों ही है, अतः इन्हें रूपान्तरित की संज्ञा मिली है। भारतेन्दु जी के मौलिक नाटकों का उल्लेख इस प्रकार होगा :—प्रेमजोगिनी (१८७५), चन्द्रावली (१८७६), भारतजननी (१८७७), भारतदुर्दशा (१८८०), नीलदेवी (१८८१), सतीप्रताप (१८८२), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७३ ई०), विषस्य विषमौषधम् (१८७७ ई०), अन्धेर नगरी (१८८१ ई०)। इन मौलिक नाटकों में अन्तिम तीन प्रहसन हैं।

भारतेन्दु ने अनुवाद, रूपान्तर और मौलिक नाटकों को सुदृढ़ भूमि दी। विषय की दृष्टि से उनके रूपांतरित एवं मौलिक नाटकों में केवल पौराणिकता ही नहीं रही, बल्कि समाजसुधार, देशप्रेम आदि नवीन विषयों को भी उन्होंने स्वीकार किया। नाटकों में गद्य को प्रधानता देकर भाषा को प्रांजल बनाने में भारतेन्दु जी विशेष सहायक हुये। उन्होंने संस्कृतपद्धति के साथ पाश्चात्य नाट्य-शैली का समन्वय किया और 'भारतदुर्दशा' में दुःखान्त की स्थिति उत्पन्न की। भारतेन्दुजी के द्वारा नाट्य-साहित्य को विशेष गति प्राप्त हुई।

भारतेन्दु जी के साथ ही उनके मण्डल के लोगों ने भी रचनायें आरम्भ कीं। इस मण्डल के रचनाकारों की कृतियों को विभिन्न धाराओं में बाँटा जा सकता है। श्री सोमनाथ जी ने उनका विभाजन इस प्रकार किया है—(अ) पौराणिक धारा, (आ) ऐतिहासिक धारा, (इ) राष्ट्रीय धारा, (ई) समस्याप्रधान या सामाजिक धारा, (उ) प्रेमप्रधान धारा, (ऊ) प्रहसन धारा।

पौराणिक धारा—(१) रामसम्बन्धी :—इस सम्बन्ध की पहली रचना है श्री शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत रामचरितावली। सन् १८७६

में श्री देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत सीताहरण और सन् १८७९ में उन्हीं के द्वारा विरचित रामलीला का परिचय मिला। इसी परम्परा में रामगोपाल कृत रामाभिषेक, ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत सीतावनवास, प्रेमघन कृत प्रयागरामागमन, वामनाचार्य गिरि कृत वारिदनाद, वध-व्यायोग (सन् १९०४) आदि का भी प्रणयन हुआ।

(२) कृष्ण सम्बन्धी:—इस सम्बन्ध की पहली रचना है श्रीशिवनन्दन सहाय कृत कृष्ण-सुदामा (१८७०)। इस परम्परा में देवकीनन्दन कृत 'रुक्मिणी-हरण', अम्बिकादत्त व्यास कृत 'ललिता' गजराज सिंह कृत 'द्रोपदी-वस्त्र-हरण', अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत 'प्रद्युम्न-विजय', वामनाचार्य गिरि कृत 'द्रोपदी-चीर-हरण' आदि का भी दर्शन हुआ।

ऐतिहासिक धारा:—भारतेन्दुजी के 'नीलदेवी' की परम्परा में ऐतिहासिक नाटक भी लिखे गये। राधा-कृष्णदास कृत 'पद्मावती' (१८८२) और 'महाराणा प्रताप' (१८९७); श्रीनिवास दास कृत 'संयोगिता-स्वयंवर' राधाचरण गोस्वामी कृत 'अमरसिंह राठौर', गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'वीर जयमल' इसी प्रकार के ऐतिहासिक नाटक हैं।

राष्ट्रीय धारा:—भारतेन्दुजी के भारतदुर्दशा से राष्ट्रीय धारा का आरम्भ हुआ। इसी धारा में सन् १८८३ में शरत्कुमार मुकर्जी द्वारा 'भारतोद्धार' रचा गया। अम्बिकादत्त व्यास का 'भारत-सौभाग्य' 'प्रेमघन' जी का 'भारत-सौभाग्य' तथा १९०२ में लिखा गया प्रताप नारायण मिश्र का 'भारत-दुर्दशा' इसी प्रकार का नाटक है।

समस्याप्रधान नाटक-धारा:—इसका आरम्भ भारतेन्दु कृत 'प्रेम जोगिनी' से हुआ। ऐसे नाटकों का उद्देश्य 'सुधार' होता है। श्री रुद्रदत्त शर्मा कृत 'अबला-विलाप' (१८८४), श्री देवदत्त कृत 'बाल विवाह दशक' (१८८५), श्री छुट्टन लाल स्वामी कृत 'बाल विवाह

नाटक' (१८९८), इसी परम्परा के नाटक हैं। इन नाटकों में कला कम, उपदेश अधिक है।

प्रेम प्रधान नाटक:—इस धारा में श्री निवासदास कृत 'रणधीर मोहिनी' और 'तप्तासंवरण' का विशेष महत्व है। खड्ग बहादुर मल्ल कृत 'रति कुसुमायुध', विन्ध्येश्वरी प्रसाद कृत 'मिथिलेश कुमारी' किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'प्रणयिन-परिणय', जगन्नाथ प्रसाद शर्मा कृत 'कुन्दकली', जैनेन्द्र किशोर कृत 'सोमसती', राय देवी प्रसाद कृत 'चन्द्रकला-भानुकुमार' आदि भी इस धारा में अपना स्थान रखते हैं।

नाटक के इस विकास काल के प्रमुख लेखक थे श्री हरिश्चन्द्र जी, श्री बालकृष्ण भट्ट, लाला श्रीनिवास दास, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, किशोरी लाल गोस्वामी आदि।

(३) सन्धिकाल:—(१९०५-१९१५)—इस काल में नाटकों की 'विकास-कालीन' धारा का ही प्रचलन रहा और उसी धारा के अनुसार नाटकों की रचना चलती रही। इस काल के नाटककारों में पं० बद्री-नाथ भट्ट का नाम उल्लेखनीय है। १९१२ में भट्टजी विरचित 'चुंगी की उम्मेदवारी' प्रहसन का परिचय मिला।

(४) प्रसादकाल:—(१९१५ से १९३३)—नाटक का वास्तविक विकास 'प्रसाद' के नाटकों में दिखाई पड़ा। १९१० से १४ तक के बीच उन्होंने चार एकांकियों की रचना की 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय' 'करुणालय' और 'प्रायश्चित'। १९५५ में राज्यश्री' की रचना उन्होंने की और १९२१ में 'विशाख' की रचना हुई। 'अजातशत्रु' और 'जन्मेजय का नागयज्ञ' को लिख लेने के बाद 'प्रसाद' जी ने १९२८ में 'स्कन्द-गुप्त' और १९२९ में 'चन्द्रगुप्त' का प्रणयन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रतीकवादी परम्परा में 'कामना' की रचना १९२३-२४ में, तथा 'एक घूँट' की रचना १९२९-३० में की। मुख्यतः ऐतिहासिक

नाटकों की रचना करते हुए भी प्रसाद जी ने समस्यामूलक रचनायें भी कीं। 'ध्रुवस्वामिनी' नारी समस्या पर लिखी गयी पुस्तक है। इसकी रचना १९३३ में हुई। प्रसाद जी ने अपने नाटकों में युग का परिचय दिया है। उन्होंने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का चयन किया है, किन्तु उसके साथ वर्तमान का भी परिचय दिया है। इस प्रकार उन्होंने भविष्य के लिये दिशा-निर्देश भी करने की कोशिश की है। विषय की नूतनता की दृष्टि से 'प्रसाद' ने नाट्य-साहित्य में नया परिवर्त्तन उपस्थित किया। उनके नाटक में नाट्यशास्त्र के पूर्वी एवं पश्चिमी दोनों ही सिद्धान्तों का समन्वय हुआ है। चरित्रों के विकास में एकसूत्रता रखते हुए उन्होंने अपनी कल्पना के योग से अपने नाटक को इतिहास की अपेक्षा नाटक अधिक बना दिया है। इसीलिये उनके नाटक ऐतिहासिक नाटक हैं। विभिन्न नाटकों में विभिन्न शैली पर अंक और दृश्य की योजना की गयी है।

'प्रसाद' के समकालीन नाटककारों की रचनायें प्राचीन धारा के अन्तर्गत ही विभक्त हैं। रामधारा में दुर्गादत्त पांडे कृत 'राम नाटक', कृष्णधारा में श्री वियोगी हरि कृत 'छद्मयोगिनी' और मथुरादासकृत 'रुक्मिणी-परिणय' का विशेष महत्व है। पौराणिक धारा के अन्तर्गत मैथिलीशरण गुप्त कृत 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास', 'अनघ'; कौशिकजी कृत 'भीष्म'; बदरीनाथ भट्ट कृत 'बेन चरित्र'; सुदर्शन कृत 'अंजना'; गोविन्द वल्लभपंत कृत 'वरमाला' आदि आते हैं।

इस युग की ऐतिहासिक धारा में सुदर्शन कृत 'दयानन्द'; बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'मीराबाई'; उग्र जी कृत 'महात्मा ईसा'; प्रेमचन्द कृत 'कर्बला'; बदरीनाथ भट्ट कृत 'दुर्गावती'; मिलिन्द कृत 'प्रताप-प्रतिज्ञा; वियोगी हरि कृत 'प्रबुद्ध-यामुन'; उदयशंकर भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त मौर्य'; गोविंददास कृत 'हर्ष' आदि को विशेष ख्याति मिली है।

इस युग की राष्ट्रीय धारा के नाटकों में काशीनाथ वर्मा का 'समय'; प्रेमचन्द जी का 'संग्राम'; कन्हैयालाल का 'देश-दशा'; और लक्ष्मण सिंह का 'गुलामी का नशा' विशेष महत्त्वपूर्ण है।

प्रसाद युग के समस्या-नाटक धारा की प्रमुख रचनायें हैं:—गोपाल दामोदर तामस्कर कृत 'राधा-माधव', जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी कृत 'मधुर मिलन'; छविनाथ पांडेय कृत 'समाज', लक्ष्मी नारायण मिश्र कृत 'संन्यासी' (१९३१), 'राक्षस का मंदिर' (१९३१); 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२) आदि। इस युग की प्रेमप्रधान धारा में दुर्गादत्त पांडे कृत 'चन्द्रावती' और धनीराम कृत 'प्राणेश्वरी' को विशेष महत्व मिला है।

इस युग में स्वतंत्रतः प्रहसन भी लिखे गये। श्री जी.पी. श्रीवास्तव कृत 'उलट फेर', 'दुमदार आदमी', 'मरदानी औरत'; गोविन्द वल्लभ पंत कृत 'कंजूस की खोपड़ी'; बद्रीनाथ भट्ट कृत 'लबड़ धौं धौं'; बेचन शर्मा 'उग्र' कृत 'चार बेचारे' और सुदर्शन कृत 'आनरेरी मैजिस्ट्रेट' को प्रहसन के क्षेत्र में विशेष ख्याति मिली।

इस युग में विभिन्न भाषाओं के नाटकों का अनुवाद भी हुआ। नाटक साहित्य का यह स्वर्णयुग था।

(५) प्रसादोत्तर युग:—इस युग में नाटक साहित्य की दो धारायें प्रधान रूप में चल रही हैं:—(१) ऐतिहासिक (२) समस्या-प्रधान। अन्य धारायें भी अपने क्षीण रूप में चल रही हैं तथापि उल्लेखनीय कार्य इन्हीं दो धाराओं में हुआ है। इन धाराओं के अतिरिक्त पौराणिक धारा में लिखा गया उदयशंकर भट्ट कृत 'अंबा', 'सगर-विजय'; चतुरसेन शास्त्री कृत 'मेघनाद'; पांडेय बेचन शर्मा उग्र कृत 'गंगा का बेटा'; डा० लक्ष्मण स्वरूप कृत 'नल-दमयन्ती' विशेष महत्व का है। पौराणिक धारा के प्रधान लेखक हैं—श्री उदयशंकर भट्ट।

इस युग के ऐतिहासिक नाटकों के अन्तर्गत आने वाले नाटक हैं:-

उदय शंकर भट्ट कृत 'दाहर' (१९३४); द्वारका प्रसाद मौर्य कृत 'हैदर-अली' (१९३४); चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कृत 'अशोक' (१९३५); गोविंदवल्लभ पंत कृत 'राजमुकुट'; कैलाशनाथ भटनागर कृत 'कुणाल' (१९३७), उपेन्द्रनाथ अश्क कृत 'जय-पराजय'; हरि कृष्ण प्रेमी कृत 'रक्षा बन्धन'; लक्ष्मी नारायण मिश्र कृत 'अशोक'; सेठ गोविंददास कृत 'कुलीनता', 'शशिगुप्त'। इस धारा के प्रमुख लेखकहैं—श्री हरिकृष्ण प्रेमी।

इस युग में प्रेमप्रधान एवं प्रतीक धाराओं का प्रतिनिधित्व दो नाटकों से हुआ—(१) कमलाकान्त वर्मा कृत 'प्रवासी' और (२) सुमित्रानन्दन पंत कृत 'ज्योत्स्ना'।

इस युग में समस्याप्रधान नाटकों को विशेष महत्त्व मिला है। इस धारा में लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'राजयोग', 'सिंदूर की होली' और 'आधीरात', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' कृत 'डिक्टेटर', 'चुम्बन' तथा 'आवारा'; गोविन्दवल्लभ पंत कृत 'अंगूर की बेटी', वृन्दावनलाल कृत 'धीरे-धीरे', सेठ गोविंददास कृत 'सेवापथ', हरिकृष्ण प्रेमी कृत 'छाया' आदि को विशेष महत्व मिला है। इस धारा के लेखकों पर इब्सन, गाल्सवर्दी, बर्नर्ड शा, का विशेष प्रभाव है। वर्तमान युग के नाटककार आदर्श से हटकर यथार्थ की ओर झुके हैं और उनके द्वारा समाज की विभिन्न समस्याओं का कथन हुआ है।

एकांकी नाटकों में एक अंक होता है और इसी एक अंक में घटनाओं एवं चरित्रों की संपूर्णता निहित रहती है। एकांकी के कथानक में विषय की एकता का होना आवश्यक होता है। इस विषय की एकता के कारण प्रभावान्विति में सहायता मिलती है। एकांकी में विषयभेद होने से प्रभाव में अन्तर पड़ जाता है। चरित्र-चित्रण में मुख्य पात्र को विशेष

एकांकी-विवेचन

महत्व दिया जाता है, शेष को गौण। एकांकी का विशेष तत्व है उद्घाटन, टिकाव, विकास, चरमोत्कर्ष, अन्त। उद्घाटन में कौतूहल और आकर्षण निहित होता है, जिसके परिणामस्वरूप दर्शक को रंगमंच की ओर आकृष्ट किया जाता है। टिकाव के अन्तर्गत दर्शक उद्देश्य से परिचित होकर उत्कंठा से निर्णय की ओर देखने लगता है। विकास के द्वारा कार्य और कारण में एकता की स्थापना अभिव्यक्त होती है। चरमोत्कर्ष में कार्य के लगभग निटक आकर विभिन्न संघर्षों द्वारा कौतूहल को चरम सीमा पर पहुँचा दिया जाता है। अन्त में विकसित कथावस्तु का संभावित पर्यवसान होता है।

एकांकी का विकास:—भारतेन्दु कृत 'विषस्य विषमौषधम्' या 'धनंजय-विजय' हिंदी का आरम्भिक एकांकी है। १८६७ से १९२९ तक भारतेन्दुजी, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, जयशंकर प्रसाद आदि द्वारा प्रणीत एकांकी का परिचय मिलता है, किन्तु नाट्यविधान की दृष्टि से इन एकांकियों का कोई विशेष महत्व नहीं है। दृश्यविधान और नाट्यविधान के आधार पर सफल एकांकी का लेखन १९३५ से मानना चाहिये। भुवनेश्वर प्रसाद का 'कारवाँ' इस प्रकार का पहला एकांकी है। इस पर 'शा' का प्रभाव है। डा० रामकुमार वर्मा और सेठ गोविंददास के एकांकी इसी प्रभाव से पूर्ण हैं। एकांकी रचना अपने पूर्ण विकसित रूप में सन् ४१ के बाद आरम्भ हुई। सन् ४१ के बाद के लेखकों में रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविंददास और उपेन्द्रनाथ अश्क को विशेष महत्व मिला है।

एकांकी के दो रूप आज हमारे सामने प्रचलित हैं—(१) चलचित्र-

मय एकांकी (२) रेडियो रूपक। एकांकी को खेलने में समय कम लगता है, उसके अभिनय में खर्च कम पड़ता है, उससे आनन्द अधिक मिलता है और प्रभावान्विति अधिक होती है, अतः आज नाटक की अपेक्षा एकांकी की ओर लोगों की प्रवृत्ति अधिक दिखायी पड़ रही है। वर्तमान समय के एकांकीकारों में उल्लेखनीय हैं—सेठ गोविंददास, डा० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, भुवनेश्वर, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचन्द्र माथुर, भगवती चरण वर्मा, सद्‌गुरुशरण अवस्थी, सत्येन्द्र, लक्ष्मीनारायण लाल, रामवृक्ष बेनीपुरी, विमला लूथरा, रत्नकुमारी, विद्या गुप्त आदि।

नाटक, रंग-मंचों पर ही खेले जाते हैं। अतः रंग-मंचों पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। भरतमुनि के अनुसार रंग-मंच तीन प्रकार के होते हैं—(१) विकृष्ट (२) चतुरस्र (३) त्र्यस्र। प्रत्येक रंग-मंच तीन भाग में विभाजित हैं—ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ। इन नाट्यगृहों में मध्यम विकृष्ट नाट्यगृह अधिक काम आता है। इस प्रकार के रंग-मंच में लम्बाई, चौड़ाई की दूनी होती है अर्थात् यदि चौड़ाई ३२ हाथ है तो लम्बाई ६४ हाथ है। पूर्व की ओर आरम्भ में नेपथ्य गृह है जिसमें नट लोग सजते हैं तथा नेपथ्य का स्वर बोला जाता है। नेपथ्य के बाद रंगशीर्ष और उसके बाद रंगपीठ होता है। इन दोनों के बीच जवनिका रहती है। रंगशीर्ष ही प्रमुख स्थान है, जहाँ अभिनय होता है। रंगपीठ वह खुला स्थान है जहाँ नृत्य आदि होता है तथा प्रहसन आदि खेले जाते हैं। रंगशीर्ष से इसका अलगाव पट-परिवर्तन की सुविधा के आधार पर किया गया है। रंगपीठ से ३-४ हाथ स्थान छोड़कर प्रेक्षागृह बनता है, जहाँ दर्शक बैठते हैं। इन सबके अन्त में प्रवेश द्वार है जिससे दर्शक प्रेक्षागृह में आते हैं।

इस नाट्यगृह का चित्र इस प्रकार है—
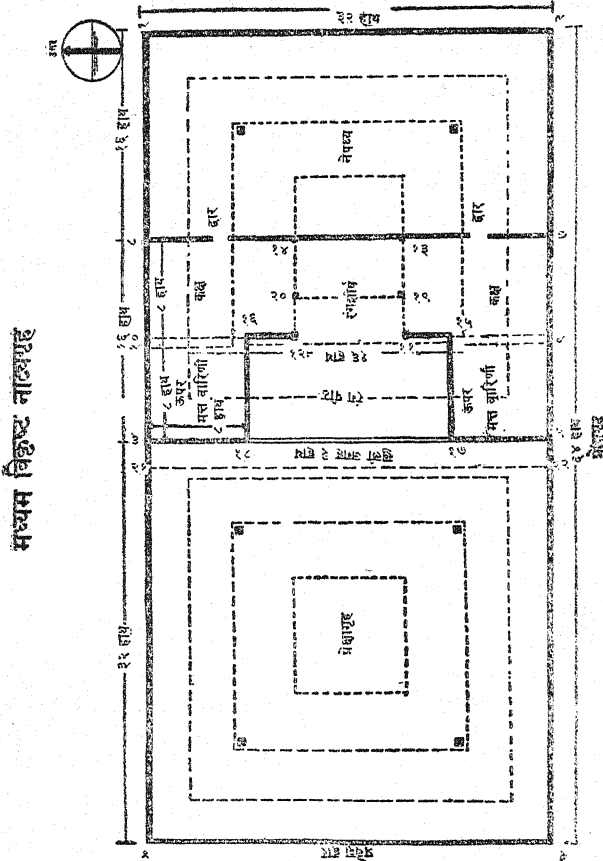
रंगमंच में विकृष्ट रंगमंच वह रंगमंच है जिसमें लम्बाई, चौड़ाई की दूनी हो। विकृष्ट ज्येष्ठा की लम्बाई १०८ हाथ, विकृष्ट मध्यमा की ६४ हाथ और विकृष्ट कनिष्ठा की ३२ हाथ होती है। चतुरस्र रंगमंच

की लम्बाई-चौड़ाई बराबर होती है और इसके भी तीन भेद हैं:— ज्येष्ठा, मध्यमा और कनिष्ठा। इनकी लम्बाई भी विकृष्ट सी ही है। त्र्यस्र रंगमंच में त्रिकोण सी स्थिति रहती है। इसका प्रयोग सीमित दर्शकों के लिये होता है।

४—कविता

कविता क्या है :—

कविता में रमा देने की शक्ति होती है। कविता को पढ़कर पाठक आनन्दानुभूत करता है। वह उसे बारबार पढ़ने को उत्सुक रहता है। कविता का रस तत्व कविता को चिर-नवीन बनाये रखता है। कविता की आत्मा रूप में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'[१] को स्वीकार किया जा चुका है। कविता करने वाला कवि समाज के सत्य को देखता है; किन्तु उसे उसी रूप में स्वीकार न करके उसे कवि-सत्य में बदलता है। यह सत्य जब कवि-सत्य बनता है तो उसमें मंगलविधान की स्थिति आ जाती है। इसी सत्य को कवि कविता के माध्यम से व्यक्त करके पाठक के हृदय तक पहुँचाता है। कविता के इसी रूप को पहचान कर श्री गुलाबराय जी ने कहा है[२]—'काव्यसंसार के प्रति कवि की भाव-प्रधान मानसिक प्रतिक्रियाओं की—श्रेय को प्रेयरूप देने वाली सरस अभिव्यक्ति है।'

कविता के लिए पद्य या छंद की भी आवश्यकता होती है। सामान्यतः कविता कहने से पद्यमयी रचना का ही बोध होता है। पद्यबद्ध रचना के द्वारा जब कल्पनापूर्ण बात ललित प्रणाली में कही जाती है और उसे समझने के लिये पाठक को कल्पनाशील बनना पड़ता है तो ऐसी रचना को लोग कविता कहकर पुकारते हैं। कविता में कल्पना का मुख्य स्थान है, अतः सामान्य वस्तुओं का, कल्पनाशील कवि कुछ अन्य रूप में कथन करता है। इस कल्पनाशील कवि में स्वार्थ का संकोच और परमार्थ का भाव रहता है। यदि वह

---

१. साहित्यदर्पण १।३   २. 'साहित्य और समीक्षा', पृ० २३

सच्चा कवि हुआ तो उसकी कविता तुलसी की तरह स्वान्तःसुखाय होते हुए भी बहुजनहिताय हो उठेगी। स्वार्थ की इस न्यूनता का अनुभव करने के कारण ही पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है[१]—'···इतना सत्य है कि कविता का क्षेत्र वहाँ से आरम्भ होता है, जहाँ दुनियावी प्रयोजन की सीमा समाप्त हो जाती है।······कविता उस आनंद का प्रकाश है जो प्रयोजन की संकीर्ण सीमा के अतिरिक्त होता है।'

'कविता का लोक-प्रचलित अर्थ वह वाक्य है जिसमें भावावेग हो, कल्पना हो, पद-लालित्य हो और प्रयोजन की सीमा समाप्त हो चुकी हो'। (साहित्य का साथी—पृ० ५२)। कविता की इस परिभाषा के विश्लेषण पर यह ज्ञात होता है कि कविता में—भावावेग, कल्पना, पद-लालित्य, और प्रयोजन की सीमा की समाप्ति—चार तत्वों को प्रधानता मिली है। कल्पना का तत्व कविता में भी होता है और स्वप्न में भी; किन्तु स्वप्न में कल्पना विकृत रूप में रहती है, कविता में अविकृत रूप में। स्वप्न में कल्पना के प्रतीक अनिश्चित होते हैं, किन्तु कविता में प्रतीक निश्चित होते हैं।

कविता में राग तत्व की प्रधानता रहती है। कवि समाज की विभिन्न स्थितियों के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है, उनके सम्बन्ध में अनुभव प्राप्त करता है और अपनी प्रेषण-कला के आधार पर अपनी इन रागात्मक अनुभूतियों को कविता के माध्यम से समाज के समक्ष अभिव्यक्त करता है। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने कविता की इसी रागात्मक स्थिति का परिचय देते हुये कहा है :—'कविता वह साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। राग से यहाँ अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति से है'।

१. 'साहित्य का साथी', पृ० ५१

कविता के सम्बन्ध में 'कालरिज' कहता है कि कविता या पद्य आवेगमयी भाषा की वह रचना है, जिसमें मधुर जिज्ञासा उत्पन्न करने और उसे तृप्त करने की शक्ति रहती है।

काडवेल ने इस सम्बन्ध में विचार करते हुये कहा है[1]:—Poetry is rhythmical, not translatable, irrational, non-symbolic, concrete, and characterised by condensed aesthetic affects. अर्थात् 'कविता लयपूर्ण, अनुवाद से परे, अबौद्धिक, अप्रतीकात्मक, मूर्त और सौन्दर्य के सार से ग्रथित रचना है।' इस परिभाषा में कविता के भाव एवं कला दोनों तत्वों का समाहार है। कविता का लयतत्व उसकी कला का परिचायक है। कविता के भाव की सूक्ष्मता का अनुवाद पूर्णतः नहीं हो सकता। कविता की अबौद्धिकता का अर्थ होता है उसकी कल्पनाशीलता। अप्रतीकात्मकता को 'काडवेल' ने गुणरूप में स्वीकार किया है, पर कविता में प्रतीक होते हैं। हाँ, ये प्रतीक स्पष्ट अवश्य होते हैं। स्वप्न की तरह इन प्रतीकों को अस्पष्ट नहीं कहा जा सकता। सौन्दर्यतत्व तो कविता का प्रधान तत्व है ही।

कविता के सम्बन्ध में विभिन्न लेखकों के विचार देखने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि :—'कविता ललित एवं लयपूर्ण पदों से युक्त वह रचना है, जिसमें भावावेग और कल्पना की प्रधानता होती है और समाज का सूक्ष्म निरीक्षण कवि के सत्य का रूप धारण कर लोक-कल्याण एवं मंगल-विधान करता है।'

कवि का व्यक्तित्व :—कविता के कर्ता को कवि की संज्ञा दी गयी है। कवि प्रतिभासंपन्न, कल्पनाशील वह प्राणी है जो संसार के सत्य

---

१. 'इल्यूजन एण्ड रीयल्टी'—पृ० ११४

का निरीक्षण करता है; और अपनी कल्पना के द्वारा वह उसे समाज के लिये कल्याणकारी बनाकर अभिव्यक्त करता है। अपार काव्य-संसार के बीच कवि की सत्ता ब्रह्मा के समान होती है। वह अपनी इच्छा के अनुसार दृश्यमान संसार को बदल कर काव्य में व्यक्त करता है। कवि के इसी रूप को देखकर अग्निपुराण के लेखक ने कहा है:—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥'

कवि की प्रतिभासंपन्न स्थिति को देखकर उसे 'परिभूः स्वयंभूः' भी कहा गया है। इस कथन के द्वारा उसे 'परमात्मा' जैसा शक्तिशाली बताया गया है। कवि को यदि कहा जाय तो वह 'ब्रह्मा' से भी सबल है। ब्रह्मा अपनी सृष्टि बनाकर उसमें परिवर्तन करने की क्षमता नहीं रखते, परिवर्तन के लिए तो उन्हें शंकर की शरण लेनी पड़ती है; किन्तु कवि अपनी सृष्टि में स्वेच्छा से परिवर्तन कर सकता है, वह अपने काव्य के दुर्गुणों का परिहार कर सकता है।

कवि और सामान्य प्राणी में बहुत अन्तर होता है। सामान्य प्राणी समाज की वस्तुओं को स्थूल रूप में देखते हैं; किन्तु कवि उसके सूक्ष्मतर रूप को देखने की शक्ति रखता है। अपनी कल्पना के बल पर वह उस स्थल तक का दर्शन कर आता है जहाँ सूर्य की भी गति नहीं है। इसीलिये तो कहा गया है—'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।' वह दूरदर्शी होता है और इसीलिये उसे 'द्रष्टा' भी कहा जाता है। कवि अपनी कविता के माध्यम से नये समाज का आदर्श निर्मित करता है, नया लोक बसाता है, नये भावों की सृष्टि करता है। अतः वह 'स्रष्टा' का पद पाता है।

कवि बाहर से देखने में सामान्य मानव की तरह ही होता है; उसके भी दो हाथ, दो पाँव, दो आँखें, एक नाक आदि मानवसम्बन्धी

अवयव होते हैं। वह भी सामान्य मानव की तरह ही खाता, पीता, बोलता तथा अन्य कार्य करता दिखाई पड़ता है। किन्तु कवि का यह बाहरी रूप उसका वास्तविक रूप नहीं है, यह तो उसका 'लौकिक' रूप है। इस रूप के पीछे उसका 'कवि' या 'कलाकार' छिपा रहता है। अपने इस वास्तविक रूप में जब वह रोता है तो समाज का रुदन लेकर, हँसता है तो समाज का हास लेकर। उसके इस रूप में समाज की सापेक्षता रहती है। वह समाज से सहानुभूति रखता है और इसीलिये उसकी कविता समाज के प्राणियों के मर्म को छूने की शक्ति रखती है, लोगों की प्रवृत्तियों को झकझोरने की शक्ति रखती है। कवि का यह रूप उसका 'साधारणीकृत' रूप कहलाता है। अतः कवि के दो रूप होते हैं—लौकिक या बाह्य रूप तथा साधारणीकृत या आन्तरिक रूप।

कवि किसी वस्तु को देखकर अपने हृदय पर पड़े हुए आघात को तुरन्त नहीं लिख देता। वह शान्ति-बेला में उन भावों पर मनन करके अपनी भावना बनाता है और तब कुछ लिखता है; किन्तु यदि भावाघात प्रबल है और उसमें कवि के साधारणीकृत रूप को जगाने की शक्ति है तो कवि तुरन्त भी कुछ लिखने को बाध्य हो जाता है। क्रौंचवध के समय बाल्मीकि की वाणी कविता बनकर फूट पड़ी थी। निश्चित ही क्रौंचवध का दृश्य उनके साधारणीकृत रूप को जगाने की क्षमता रखता था। कवि शान्तिबेला में अपने अनुभवों पर विचार कर, उन अनुभवों को कविता का रूप देता है। इसीलिये कविता के सम्बन्ध में वर्ड्सवर्थ ने कहा है—'शान्ति वेला में स्मरण किये गये मनोवेगों का स्वाभाविक प्रवाह ही कविता है[1]।'

---

1. 'Poetry is the spontaneous overflow of emotions recollected in tranquility.'—Wordsworth—

वक्रोक्तिकार कुन्तक ने कवि की परिभाषा करते हुए कहा है 'कवेः कर्म काव्यं' अर्थात् कवि का कर्म ही काव्य है। उनकी इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि काव्य, एक कवि-व्यापार है। अपने इस कथन से उन्होंने कवि के कर्तृत्व को स्वीकार किया है। वे मानते हैं कि कवि ही काव्य का कर्ता है। इसके विरुद्ध पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्त के अनुयायी 'इलियट' ने कवि को कर्ता न मानकर केवल माध्यम माना है। डा० नगेन्द्र ने 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' की भूमिका में इलियट के इस विचार का स्पष्टीकरण किया है। इलियट के विचार भारतीय विचार से मेल नहीं खाते। भारतीय दृष्टि से कवि माध्यम नहीं, कर्ता ही माना गया है। माध्यम तो वैज्ञानिक हो सकता है, कवि वैज्ञानिक नहीं है। वह समाज को जैसा देखता है वैसा ही नहीं चित्रित करता, वह तो 'कर्ता' की भाँति समाज को बदल कर नया रूप देना चाहता है। वह आदर्श का निर्माण करता है, किन्तु यथार्थ की धरती छोड़ता नहीं।

कविता-रस-और रस-निष्पत्ति

भारतीय दृष्टि से कविता में रमण-वृत्ति रहती है। यह रमण की वृत्ति कविता में स्थित रसका परिणाम है। 'रस' काव्य में स्थित 'आनन्द' के भाव को द्योतित करता है। यह 'रस' या 'आनन्द' मनुष्य की प्रवृत्तियों से सम्बन्धित होता है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ ही स्थायी भाव कहलाती है। स्थायी भाव नव माने गये हैं, अतः उनसे सम्बद्ध रसों की संख्या भी नव ही रही है। इन स्थायी-भावों में 'ममता' को जोड़कर एक नया रस बनाया गया है और उसे 'वात्सल्य' की संज्ञा दी गयी है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो स्थायीभाव और उनसे निष्पन्न होनेवाले रसों की गणना इस प्रकार होगी :—

स्थायी भाव	रस
१ रति	शृङ्गार
२ हास	हास्य
३ शोक	करुण
४ क्रोध	रौद्र
५ उत्साह	वीर
६ भय	भयानक
७ घृणा	बीभत्स
८ विस्मय	अद्भुत
९ शम या निर्वेद	शान्त
१० ममता	वात्सल्य

रस-निष्पत्ति :—स्थायी भाव आश्रय के मन के अन्दर सोये रहते हैं। आलम्बन को देखकर तथा उद्दीपन विभावों को प्राप्तकर, ये स्थायी भाव जागृत होते हैं। विभिन्न संचारी भावों के मेल से वे पूर्णतः जाग कर 'रस' का रूप धारण कर लेते हैं। स्थायी भाव से 'रस' बनने की इस प्रक्रिया को 'रस-निष्पत्ति' कहा जाता है। भरत मुनि ने रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में एक सूत्र दिया है :—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' अर्थात् विभाव अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। अतः विभाव, अनुभाव और संचारी भावों को समझना आवश्यक है।

आश्रय :—वह व्यक्ति-जिसके मन में सोया हुआ स्थायीभाव जाग कर रस बनता है—आश्रय कहलाता है। यदि राम को देखकर सीता में प्रेम जगे और शृङ्गार का रूप ले तो सीता आश्रय होंगी।

अनुभाव :—अनुभाव आश्रयगत होता है। विभिन्न वस्तुओंको देख कर जिन भावों का अनुभव आश्रय करता है, वे भाव अनुभाव कहलाते हैं। यदि राम को देखकर सीता में प्रेम जागता है और उसके कारण वे कुछ अनुभव करती हैं जिससे उनमें रोमांच पैदा होता है तो यह 'रोमांच' अनुभाव होगा। इसकी परिभाषा है:—'अनुभावः विकारस्तु भाव-सूचनात्मकः' अर्थात् आन्तरिक भाव का अनुभव करानेवाला अनुभाव है। अनुभाव आठ प्रकार के होते हैं:—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, विवर्णता, अश्रु, प्रलाप। आश्रय में ये अनुभाव आलम्बन या उद्दीपन विभावों के कारण उत्पन्न होते हैं।

विभाव :—उन विशिष्ट भावों को विभाव कहते है, जिनके कारण आश्रय के अन्दर सोया हुआ स्थायी भाव जागता है और जो आश्रय में अनुभाव की उत्पत्ति करते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं:—आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव।

आलम्बन-विभाव :—जिसके द्वारा भाव की उत्पत्ति होती है वह आलम्बन कहलाता है। राम को देख कर यदि सीता के मन में भाव जागते हैं तो राम आलम्बन होंगे। आलम्बन की चेष्टायें ही आलम्बन विभाव हैं।

उद्दीपन विभाव :—आलम्बन को देखकर जिन भावों का उदय आश्रय में होता है, उन्हें जिन भावों से तीव्रता मिलती है, वे भाव-विशेष उद्दीपन कहलाते हैं। उद्दीपन प्रकृति से भी प्राप्त होता है और मानव से भी। यदि राम को देखकर सीता में प्रेम जागता है तो राम आलम्बन और राम की चेष्टायें आलम्बन विभाव होंगी। वह फुलवारी—जिसमें राम को सीता ने देखा है—तथा उसका वातावरण उद्दीपन का कार्य करेगा, क्योंकि उस वातावरण की रमणीयता प्रणयभाव को तीव्र बनाने में सहायक है।

संचारी या व्यभिचारी भाव :—आश्रय के अन्दर स्थायी भाव रहता है। इन मूल स्थायी भावों के साथ बहुत से अन्य भाव भी आश्रय में उत्पन्न होते एवं शमित होते रहते हैं। इन भावों को ही संचारी भाव कहते हैं। सीता ने राम को देखा। उनके मन में 'रति' भाव जगा। इस 'रति' स्थायी के साथ ब्रीड़ा जैसा संचारी भाव भी उदित हो जाता है। इन संचारी भावों की संख्या ३३ मानी गयी है, जो विभिन्न रसों के साथ व्यक्त होते रहते हैं। ये ३३ संचारी भाव हैं:—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया (डाह), मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, ब्रीड़ा (लज्जा), चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार (मिरगी), स्वप्न, विबोध (जागना), अमर्ष, अवहित्थ (गोपन), उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, त्रास, वितर्क, मरण। ये प्रमुख ३३ संचारी भाव है। इनसे मिलती जुलती अन्य अवस्थायें भी संचारी रूप में आती है, जिनकी गणना संभव नहीं है।

इस प्रकार स्थायी भाव को आलंबन विभाव व उद्दीपन विभाव जगाते हैं और वे स्थायी भाव जब अनुभाव तथा सञ्चारी भावों से युक्त होते हैं तब रसकी सृष्टि होती है। इन सब के होने पर ही रस बनता है। इसमें से किसी एक की भी कमी होने पर रस न बन कर केवल 'भावाभास' मात्र होता है। आश्रय में स्थित ९ स्थायी भावों (ममता को लेकर १०) से ९ रस (वात्सल्य को लेकर १०) की सृष्टि होती है। इन नवों रसों में शृङ्गार को रसराज कहा गया है। इस मानव लोक के सभी प्राणियों में शृङ्गार की व्यापकता को देख कर ही शृङ्गार को रसराज की उपाधि दी गयी है। भवभूति ने सात्विकता के आधार पर करुण रस को रसराज कहा है, किन्तु सात्विकता की अपेक्षा व्यापकता की दृष्टि अधिक ग्राह्य है, अतः शृङ्गार रस ही रसराज है। शृङ्गार के अन्दर ३३ सञ्चारी भी आ जाते हैं। अन्य रसों में ये सभी सञ्चारी नही आ पाते। शृङ्गार के दो

भेद हैं:—संयोग श्रृङ्गार और वियोग या विप्रलम्भ श्रृङ्गार। विप्रलम्भ श्रृङ्गार के पुनः तीन भेद हैं:—(१) पूर्वानुराग:—प्रियमिलन से पूर्व कल्पनाजन्य विरह (२) प्रवास:—प्रिय के परदेशी होने पर विरहानुभूति (३) मान:—प्रिय की उपस्थिति में रोष के कारण विरहप्राप्ति या विरह का रस लेने के लिये स्वेच्छा से मान की स्थिति में आना। पहले प्रकार का मान 'ईर्ष्या-मान' होता है और दूसरे प्रकार का मान 'प्रणय-मान' कहलाता है।

रस-विरोध व रस-मैत्री:—रसों में कुछ रस विरोधी प्रकृति के होते हैं और कुछ में मित्रता होती है। दो विरोधी रसों को एक साथ मिलाना 'रस-विरोध' दोष कहलाता है, यथा श्रृङ्गार और वीर रस का एक ही स्थान पर कथन। मित्र रसों का मिलाना दोष नहीं होता, यथा श्रृङ्गार और हास्य का मिलाना या वीर और रौद्र का मिलाना।

कविता और अलंकार

अलंकार का पर्याय है आभूषण। सौन्दर्यमयी नारी अलंकार से अपने को अलंकृत कर अपने सौन्दर्य में चार चाँद लगा देती है। इस सौन्दर्यमयी नारी की तरह ही कविता-कामिनी भी अलंकार से अलंकृत होकर सहृदय को मोहती रहती हैं। अलंकार के इस रूप को ही पहचान कर आचार्य केशव ने कहा है—'भूषण बिन न विराजई कविता बनिता मित्त।' इस अलंकार की उपयोगिता को संस्कृत के आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। आचार्य वामन ने तो 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' कहकर यहाँ तक कह दिया है कि काव्य अलंकार के कारण ही ग्राह्य होता है। भामह, दण्डी आदि तो अलंकार को काव्य की आत्मा तक घोषित कर चुके हैं। 'अलंकार' का कविता में बहुत अधिक महत्व है और कविता के कलापक्ष की दृष्टि से अलंकारों पर विचार

करना आवश्यक हो जाता है। अलंकार मुख्यतः तीन भागों में बँटे है—(१) शब्दालंकार (२) अर्थालंकार (३) उभयालंकार।

(१) शब्दालंकार :—जब शब्दों के द्वारा चमत्कार उपस्थित किया जाता है, तो शब्दालंकार होता है। शब्दालंकार के चार प्रमुख भेद हैं—अनुप्रास, यमक, श्लेष और वक्रोक्ति।

अनुप्रास :—वाक्य में शब्द के जिस स्थान पर एक व्यंजन का प्रयोग हो, उसी स्थान पर वाक्य के दूसरे शब्दों में भी उसी व्यंजन की विभिन्न आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं। अतः अनुप्रास का अर्थ है—व्यंजनों की आवृत्ति। इस आवृत्ति के आधार पर अनुप्रास ५ प्रकार के होंगे—(१) छेकानुप्रास—जहाँ शब्द के आरम्भ में वाक्य में व्यंजन की दो बार आवृत्ति होती है। यथा—'नव उज्ज्वल जल धार हार हीरक सी सोहत' में 'हार' व 'हीरक' में 'ह' की तथा 'सी' व 'सोहत' में 'स' की दो बार आवृत्ति हुई है। (२) वृत्त्यनुप्रास—जहाँ वाक्य में शब्दों के आरंभ के व्यंजन की दो से अधिक बार आवृत्ति होती है, वृत्त्यनुप्रास होता है। यथा—'सतगुरु साँचा सूरमा, नखशिख मारा पूरि' में 'सतगुरु' 'साँचा' व 'सूरमा' में 'स' की दो से अधिक बार आवृत्ति हुई है। (३) श्रुत्यनुप्रास—जब एक ही स्थान से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों की आवृत्ति होती है तो श्रुत्यनुप्रास होता है। यथा—'दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला' में 'अ, ग, क' 'कंठ-ध्वनि' है और इसकी आवृत्ति हुई है। (४) अन्त्यानुप्रास—वाक्य के अन्तिम पद, दूसरे वाक्य के अंतिम पद से साम्य रखते हैं, तब अन्त्यानुप्रास होता है। इसे ही कविता में तुक मिलाना कहते हैं। यथा—कामायनी के आशा सर्ग में 'उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी सी उदित हुई। इधर पराजित कालरात्रि भी जल में अंतर्निहित हुई।' में पहली पंक्ति का अंतिम पद है 'उदित हुई'। इसी से साम्य रखती

हुई ध्वनि दूसरी पंक्ति में मिलती है 'अंतर्निहित हुई' (५) लाटानुप्रास—जब शब्द या व्यंजन की आवृत्ति न होकर शब्द—अर्थ के बिना बदले ही पदों की आवृत्ति हो और अन्वय पर इस आवृत्ति से अर्थ परिवर्तन लक्षित होता हो तो लाटानुप्रास होता है। यथा—

'पीय निकट जाके नहीं, घाम चाँदनी ताँहि।

पीय निकट जाके, नहीं, घाम, चाँदनी ताँहि।' पहले पद की ही आवृत्ति दूसरे में है पर 'कॉमा' के आग्रह से अन्वयजन्य अर्थ-भेद होता है।

यमक:—जब पद में एक शब्द एक से अधिक बार आवे और भिन्न अर्थ में आवे तो 'यमक' होता है जैसे 'कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय। यह खाये बौराय जग, वह पाये बौराय।' में 'कनक' का दो बार दो अर्थ में प्रयोग है। पहला अर्थ है धतूरा और दूसरा स्वर्ण।

श्लेष:—जब पद में एक शब्द एक ही बार प्रयुक्त हो और उससे एक से अधिक अर्थ व्यक्त हों तो 'श्लेष' होता है। यथा—

'मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परै श्याम हरित द्युति होय।।'

में राधा, नागरि और सोय का एक ही बार प्रयोग है, पर अर्थ दो है। राधा = कृष्ण की राधा, साग; नागरि = चतुर, साग; और सोय = वही, साग।

श्लेष दो प्रकार का होता है—अभंग-पद व सभंग पद। अभंगः पद श्लेष का उदाहरण ऊपर दिया गया है। इसमें जिस शब्द में श्लेष होता है उसमें कहीं तोड़-मरोड़ नहीं करना पड़ता है। सभंग-पद श्लेष लाने के लिए शब्द को तोड़ना पड़ता है। यथा—'अजहुँ तरौना ही रह्यौ, श्रुति सेवत इक अंग' में तरौना का अर्थ कान का आभूषण भी

है और उसे तोड़ देने पर तर्‌यो ना हो जाता है, जिसका अर्थ होता है मुक्त न होना।

वक्रोक्ति:—जहाँ उक्ति वैचित्र्य हो अर्थात् उक्ति में वक्रता हो, वक्रोक्ति अलङ्कार होता है। वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है:—(१) श्लेष वक्रोक्ति:—जब कहे गये वाक्य का श्लेषात्मक अर्थ लगाकर उत्तर वक्र ढङ्ग का दिया जावे तो श्लेष वक्रोक्ति होती है। यथा:—

'को तुम हो? इत आये कहाँ? घनश्याम हो तो कितहूं बरसौ' में कौन हो और कहा से आये हो जैसे गोपी के प्रश्न पर कृष्ण ने उत्तर दिया मैं 'घनश्याम हूँ'। गोपी ने श्लेष से घनश्याम का अर्थ बादल ले कर उत्तर दिया—'तो कित हूं बरसौं'। (२) काकु वक्रोक्ति:—जब कण्ठ-ध्वनि से उक्ति में वक्रता उपस्थित की जाय तो काकु वक्रोक्ति होती है। यथा:—'सात दिवस भये साजत सकल बनाउ, का पूछहु, सुठि राउर रुचिर सुभाउ' यहाँ 'राउर रुचिर सुभाउ' कंठध्वनि के कारण मूर्खता का वाचक बन जाता है, अतः काकु वक्रोक्ति है।

(२) अर्थालङ्कार:—जब वाक्य में शब्द का चमत्कार न होकर अर्थ का चमत्कार लक्षित होता है और इस चमत्कार से भावमय-कविता को निखार मिलता है तो 'अर्थालङ्कार' कहलाता है। इनका भेद इस प्रकार हैं:—

उपमा:—धर्म, क्रिया और व्यापार के आधार पर जब उपमेय और उपमान में समानता स्थापित की जाती है तो उपमा अलङ्कार होता है। उपमा अलङ्कार में चार तत्व होते हैं (१) उपमेय:—जिसकी उपमा दी जावे, (२) उपमान:—जिससे उपमा दी जावे, (३) वाचक अर्थात् समानता बोधक शब्द, (४) धर्म:—जिसके आधार पर दोनों में समानता स्थापित की जावे। यथा—"उनका अधर बिम्बाफल के समान लाल है" में 'अधर' उपमेय है, 'बिम्बाफल'

उपमान है, 'समान' वाचक है और 'लाल' धर्म है। इस उपमा के कई भेद हैं। (१) पूर्णोपमा:—जहाँ ये चारों तत्व वर्त्तमान हों। जैसे ऊपर के उदाहरण में। (२) लुप्तोपमा:—जहाँ इन चारों तत्वों में से कोई एक अनुपस्थित रहता है, 'लुप्तोपमा' होती है। धर्म के लोप होने पर धर्मलुप्तोपमा होती है। यथा:—'दुग्ध-धवल सम चादर' में 'श्वेत' धर्म लुप्त है। वाचक के लोप होने पर 'वाचकलुप्तोपमा' कहलाती है:—यथा—'अरुण कमल नयना भले' में नेत्र उपमेय है, कमल उपमान है, अरुण धर्म है और वाचक लुप्त है। उपमेय के लुप्त होने पर उपमेय-लुप्तोपमा' होती है। यथा:—'चन्द्रकला सी खेल रही थी, थे वे अपनी क्रीड़ा में, 'चन्द्रकला सी हँसी' खेल रही थी अतः उपमेय हँसी यहाँ लुप्त है। जब उपमान का लोप होता है तो 'उपमानलुप्तोपमा' कहलाती है। यथा—'मुझको मेरे प्रिय सुन्दर हैं, सुन्दर प्रिय सा कौन' में 'सुन्दर' कर्म है, 'प्रिय' उपमेय है, 'सा' वाचक है, किन्तु उपमान लुप्त है। जब उपमाओं की माला सी बनती चली जाती है अर्थात् उपमेय एक होता है पर कई उपमानों से उसकी उपमा बैठायी जाती है, तब 'मालोपमा' कहलाती है—यथा:—

'हर ज्यों अनंग पर, गरुड़ भुजंग पर,
कौरव के अंग पर पारथ ज्यों पेखिये।
बाज ज्यों बिहंग पर, सिंह ज्यों मतंग पर
म्लेच्छ चतुरंग पर सिवराज देखिये ॥' (भूषण)

रूपक अलंकार:—लक्षण—'उपमेयरु उपमान जहँ एकै रूप कहाँय' अर्थात् जहाँ उपमेय और उपमान एक रूप हों, कोई किसी से घट बढ़कर न हो, वहाँ 'रूपक' अलंकार होता है। रूपक में वाचक की आवश्यकता नहीं होती। यथा—'मुखकमल समीप सजे थे दो किसलय

दल पुरइन के' में मुख और कमल एक रूप है, अतः उनमें रूपक है। रूपक के दो भेद हैं—अभेद रूपक और तद्रूप रूपक।

अभेद रूपकः—वह रूपक जिसमें बिना किसी शर्त के उपमेय और उपमान अभिन्न कहे गये हों, अभेद रूपक होता है। इसके तीन भेद होते हैं—(१) सांग अभेद रूपक—जहाँ उपमान का अंग-प्रत्यंग उपमेय में आरोपित हो। यथा—

'उदित उदय गिरि मंच पर, रघुबर बाल पतङ्ग।
विकसे संत सरोज सब, हरषे लोचन भृंग॥'

यहाँ राम में सूर्य का रूपक बैठाकर, पर्वत पर सूर्योदय से कमल के विकसित होने और भ्रमर के प्रसन्न होने तक की बात रूपक के द्वारा दिखायी गयी है। (२) निरंग अभेद रूपक—जब अंग-प्रत्यङ्ग का कथन रूपक में न होकर, केवल उपमान का उपमेय में पूर्णतः आरोप होता है तो निरंग अभेद रूपक होता है यथा—

'छिन-छिन प्रभु-पद कमल विलोकी।
रहिहौं मुदित दिवस जनु केकी॥'

(३) परम्परित अभेद रूपकः—जहाँ प्रधान रूपक की पुष्टि के लिये कुछ और रूपकों का कथन हो अर्थात् जहाँ क्रम से रूपक योजना हो, परम्परित रूपक होता है, यथा—

'बाड़व ज्वाला सोती थी, इस प्रणय सिन्धु के तल में।
प्यासी मछली सीं आंखें, थी विकल रूप के जलमें॥'

आँखों को मछली का रूपक देने के लिए एक दूसरा रूपक भी खड़ा किया गया है और रूप को जल से रूपकबद्ध किया गया है।

तद्रूप रूपकः—जब उसमेय व उपमान एक रूप नहीं होते बल्कि उपमेय, उपमान-रूप होता है तो तद्रूप रूपक होता है। यथा—

'सागर से उपजी न यह कमला अपर सुहाति ।'
में कमला से भेद रखकर भी दोनों का समान बनाने का यत्न है। 'अपर' शब्द' भेद का सूचक है ।

अनन्वय अलंकार:—उहाँ उपमान का कथन नहीं होता और उपमेय ही उपमान का स्थान भी ग्रहण करता है, अनन्वय अलंकार होता है। इसमें उपमेय ही अपना उपमान भी होता है। गाँधी की उपमा गाँधी से ही दी जा सकती है ।'

अपह्नुति:—अपह्नुति का अर्थ होता है 'दुराव'। सत्य स्थिति को छिपाकर उसके स्थान पर मिथ्या बात कही जाय, पर मिथ्या बात भी सत्य के अर्थ का बोध कराती हो तो 'अपह्नुति' होता है, जैसे:—

'यह पानी नहीं सोना बरस रहा है' में पानी को छिपाकर सोना की बात कही गयी है जो मिथ्या होते हुये भी पानी के प्रभाव से प्राप्त होने वाली स्वर्ण-राशि की संकेतिका हैं। अपह्नुति में ६ भेद हैं:—

(१) शुद्धापह्नुति:—जहाँ उपमेय का निषेध करके उपमान का कथन किया गया हो—'बन्धु न होय मोर यह काला' में 'बन्धु' का निषेध करके 'काल' की स्थापना की गयी है ।

(२) हेत्वपह्नुति:—जहाँ उपमेय का निषेध और उपमान का स्थापन कारण देकर किया जाय:—

धुरवा होंहि न अलि यहै, धुँवाँ धरनि चहुँ कोद ।
जारत आवत जगत को, पावस प्रथम पयोद ।। बिहारी

में 'जारत आवत जगत को' कारण है जिसके आधार पर धुरवा का निषेध कर 'धुँआ' की स्थापना की गयी है। अतः हेत्वपह्नुति है ।

(३) पर्यस्तापह्नुति:—जब किसी वस्तु के धर्म का निषेध इसलिये किया जावे की उसकी स्थापना अन्य वस्तु में करनी है तो 'पर्य-

क्तापह्नुति' होता है। यथा:—'सुख धन धरती में नहीं, किन्तु निज मन में'—'साकेत' में—धन-धरती में सुख-धर्म का निषेध कर उसे मन में स्थापित किया गया है।

(४) भ्रान्तापह्नुति :—जब किसी को किसी वस्तु में भ्रम हो और उसका निवारण सत्य का कथन करके किया जावे तो 'भ्रांतापह्नुति' होता है। यथा:—

'बद्दल न होंहि दल दच्छिन घमण्ड माहिं
घटा हू न होंहिं, दल सिवाजी हँकारी के'

में बादल के भ्रम का निवारण कर सत्य का उद्घाटन करते हुए कहा गया है कि वह शिवाजी की सेना के पदचाप से उठने वाली धूल है।

(५) छेकापह्नुति :—भ्रान्तापह्नुति के ठीक प्रतिकूल स्थिति है छेकापह्नुति की। इसमें पहले सत्य का कथन करके, बाद में झूठ से भ्रम फैलाया जाता है। यथा—अमीर खुसरो की पहेली:—

'टट्टी तोड़ के घर में आया।
अरतन बरतन सब सरकाया॥
खाया, पीया दे गया बुत्ता।
का सखि! साजन, ना सखि कुत्ता'॥

(६) कैतवापह्नुति :—बहाना सूचक शब्द से जब सत्य को छिपा कर असत्य की स्थापना की जाती है तब कैतवापह्नुति होता है:—'राम के मिस काल ने रावण पर प्रहार किया' में 'मिस' जैसा बहाना सूचक शब्द राम का निषेध कर 'काल' की स्थापना करता है।

उल्लेख अलंकार :—एक ही वर्ण्य विषय का अनेक प्रकार से वर्णन उल्लेख अलंकार कहलाता है। जब बहुत से व्यक्ति वर्ण्य विषय का

विभिन्न रूप में कथन करते हैं तब प्रथम उल्लेख होता है और जब एक ही व्यक्ति कई रूप में वर्णन करता है तब द्वितीय उल्लेख होता है। यथा :—केशव कृत् दशरथ-महिमा वर्णन :—

'विधि के समान हैं, विमानीकृत राजहंस
विविध विबुधयुत मेरु सो अचल हैं।
दीपति दिपति अति सातौ दीप दीपयतु,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिना को बल है ॥'

असंगति अलंकार :—जहाँ कार्य और कारण में संगति न हो, कारण कहीं हो और उसका परिणाम (कार्य) कहीं हो, असंगति अलंकार होता है। जैसे :—

'दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीत।
परत गाँठ दुर्जन हिये, दई नयी यह रीत ॥'

इसमें उलझने की क्रिया कहीं होती है, टूटना कहीं होता है, जुड़ना अन्यत्र होता है और गाँठ कहीं अन्यत्र जाकर पड़ती है। किसी क्रिया में संगति नहीं है। अतः असंगति अलंकार माना जावेगा।

स्मरण अलंकार :—जब उपमेय से मिलती जुलती वस्तु को देखकर या अन्य किसी परिस्थिति में पड़कर उपमेय की याद हो आती है तब स्मरण अलंकार होता है। यथा :—

'सघन कुंज छाया सुखद, शीतल मन्द समीर।
मन अजहूँ ह्वै जात वै, वा जमुना के तीर ॥'

में जमुना के तट का वातावरण कृष्ण के साथ 'रास' की याद दिला देता है। अतः स्मरण अलंकार है।

भ्रान्तिमान अलंकार :—सादृश्य के आधार पर जब किसी वस्तु का भ्रम वश दूसरे वस्तु के रूप में कथन हो जावे तो भ्रांतिमान अलंकार होगा जैसे सर्प को रस्सी समझ लेना या रस्सी को सर्प मान लेना। यथा :— 'देखि राम पथिक नाचत मुदित मोर
मानत मनहुँ सुतड़ित ललित घन, धनु सुरधनु गरजनि टंकोर।'
में राम में बादल का भ्रम मानकर मोर नाचने लगता है।

संदेहालंकार :—सादृश्य के आधार पर जब निर्णय न किया जा सके कि कौन सी वस्तु है तो संदेहालंकार होता है। 'यह सर्प है कि रस्सी है' कहने में संदेह स्पष्ट है। संदेहालंकार के वाचक शब्द हैं—'कैं, किधौं, धौं, कि, कैधौं, आदि। यथा :—

'किधौं बज्रकन लाल नगनि खचि तापर विद्रुम पांति।
किधौं सुभग बन्धूक कुसुम पर झलकत जलकन कांति।।'
में किधौं वाचक से कृष्ण के अधर के उपमाओं के सम्बन्ध में संदेह व्यक्त है।

दृष्टान्त अलंकार :—जब उपमेय सम्बन्धी वाक्य के पोषणार्थ एक दूसरा वाक्य कहा जाय और 'जैसे' आदि वाचक शब्द न आवें तो दृष्टांत अलंकार होता है। पोषक-वाक्य दृष्टान्त स्वरूप ही होते हैं। यथा :—

'रहिमन अँसुवा नयन ढरि, जिय दुःख प्रकट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ।।'
में प्रथम पंक्ति का आशय दूसरी पंक्ति के दृष्टांत से पुष्ट हुआ है।

उदाहरण अलङ्कार :—उदाहरण और दृष्टान्त का भेद वाचक शब्दों में निहित होता है। मुख्य वस्तु के पोषण के निमित्त दूसरे

वाक्य का कथन उदाहरण में भी होता है पर 'ज्यों' 'जैसे' आदि वाचक शब्द के साथ :—

'जगत जनायो जेहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँखि न देखी जाय ॥'

में 'ज्यों' वाचक से प्रथम पंक्ति के आशय को स्पष्ट एवं पुष्ट करने के लिए द्वितीय पंक्ति का कथन हुआ है।

उत्प्रेक्षा अलङ्कार :—उत्प्रेक्षा का शाब्दिक अर्थ है देखने की उत्कट इच्छा। इसका अर्थ यह है कि कवि अपने प्रतिभा के आग्रह से असमान वस्तुओं में भी समानता देखना चाहता है। उपमेय और उपमान भिन्न होने पर भी कविप्रतिभावश कल्पनाओं के माध्यम से एक रूप दिखाये जाते हैं। कल्पना मूल में होने के कारण ही उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द हैं:—मनु, जनु, मानो, जानो आदि। इसके मुख्यतः तीन भेद होते हैं:—

(१) वस्तूत्प्रेक्षा :—जब किसी एक वस्तु या विषय से साम्य दिखाने के लिये अपर वस्तु या विषय की उत्प्रेक्षा की जाय तो वस्तूत्प्रेक्षा होती है:-

'हँसत दशन एक शोभा उपजति उपमा जात लजाई।
मनौ नील मनि पुट मुक्तागन बंदन भरि बगराई ॥'

(२) हेतूत्प्रेक्षा :—जब 'अहेतु' की उत्प्रेक्षा उसे 'हेतु' मानकर की जावे तो 'हेतूत्प्रेक्षा' होती है। जो कारण नहीं है, उसे कारण मानकर कथन करना 'हेतूत्प्रेक्षा' है। उदाहरणार्थ:—

'पिउ सों कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुँआ मोहि लाग ॥'

जायसी के इस कथन में हेतूत्प्रेक्षा है क्योंकि काग, विरहिन के जलने पर उठे हुए धुँये से काला नहीं हुआ है, पर इस पद में काग के काला होने का यही कारण माना गया है।

(३) फलोत्प्रेक्षा:—कार्य का जो परिणाम नहीं है, उसे परिणाम मानकर कथन करना 'फलोत्प्रेक्षा' कहलाता है। 'काव्यांग-कौमुदी' (प्रथमकला) में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी ने फलोत्प्रेक्षा' का सुन्दर उदाहरण दिया है:—

'दुवन सदन सबके बदन, 'सिव सिव' आठौ जाम।
निज बचिवे को जपत जनु, तुरकौ हर कौ नाम॥'

में 'सिव सिव' शब्द 'शिवाजी' का नाम है पर उसे 'शिव का जप' रूप फल माना गया है, अतः फलोत्प्रेक्षा है।

इन सबके अतिरिक्त एक उत्प्रेक्षा और होती है, जिसे 'गम्योत्प्रेक्षा' कहते हैं। इस प्रकार की उत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा (कल्पना) तो होती है, किन्तु उसके वाचक शब्द नहीं होते हैं।

'मरकत-मन्दर पर संगमी रतनहार।
लहरैं तरंगदार गंग-यमुना की हैं॥'

(काव्यांग कौमुदी कला ३)

में 'मानो लहरैं तरंगदार गंग-यमुना की हैं' नहीं कहा है। 'मानों' के इस लोप के कारण इस उत्प्रेक्षा को 'गम्योत्प्रेक्षा' कहते हैं।

प्रतीप अलंकार:—प्रतीप का अर्थ होता है 'उल्टा'। जहाँ उपमान (जो श्रेष्ठ है) का तिरस्कार कर उपमेय को श्रेष्ठ बताया जाता है, प्रतीप अलङ्कार होता है। इसके पाँच रूप होते हैं:—

(१) प्रथम प्रतीप:—जब उपमेय की श्रेष्ठता सिद्ध करने के

लिये प्रसिद्ध उपमान को ही उपमेय बना दिया जाता है तब प्रथम प्रतीप अलंकार होता है:—

'है दाँतों की झलक मुझको दीखती दाड़िमों में।
बिंबाओं में वर अधर सी राजती लालिमा है॥'

जैसी पंक्तियों में हरिऔध जी ने दाड़िम, बिंबा आदि उपमानो को उपमेय बना दिया है और दाँत, अधर आदि उपमेयों को उपमान बना दिया है।

(२) द्वितीय प्रतीप:—उपमान को उपमेय बनाकर वर्णित किया जाय और मूल उपमेय का निरादर हो तो द्वितीय प्रतीप होता है:—

'करती तू निज रूप का गर्व किन्तु अविवेक।
रमा, उमा, शचि, शारदा तेरे सदृश अनेक॥'

(संक्षिप्त अलंकार मंजरी)

(३) तृतीय प्रतीप:—जब उपमान को उपमेय बनाकर, वास्तविक उपमेय के द्वारा उसका निरादर कराया जावे तो तृतीय प्रतीप होता है:—

'हालाहल, मत गर्व कर हूँ मैं क्रूर अपार।
क्या न अरे! तेरे सदृश खल-जन-वचन, विचार॥'

(संक्षिप्त अलंकार मंजरी)

(४) चतुर्थ प्रतीप:—उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान बनाकर जब उपमेय के समक्ष उपमान को हीन सिद्ध करते हैं तब चतुर्थ प्रतीप होता है:—

बहुरि विचार कीन्ह मन माँही।
सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥ (तुलसीदास)

(५) पञ्चम प्रतीप :—उपमेय में उपमान द्वारा किये गये कार्य को करने की सबल स्थिति दिखाकर उपमान को हीन बताया जाता है :—

पत्रा ही तिथि पाइयत वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पुन्योई रहे आँगन ओप उजास ।।

में नायिका का मुख हमेशा चाँदनी फैलाये रहता है, अतः मुख उपमेय से चाँद उपमान को नीचे गिराया गया है।

व्यतिरेक :—जब उपमेय में उपमान से कुछ विशेष योग्यता दिखायी जावे तो व्यतिरेक होता है। व्यतिरेक का अर्थ है 'अन्तर'। प्रतीप में उपमान का तिरस्कार होता है किन्तु व्यतिरेक में दोनों समान रहते हैं और इस समानता के साथ उपमेय में कुछ विशेष योग्यता भी रहती है। यथा दूलहकृत :—

'कुन्दन सो रूप पै सुगन्ध सरसानो है।'

में रूप की उपमा कुन्दन उपमान से की गयी है पर कुन्दन में सुगन्धि नहीं है और उपमेय नायिका में सुगन्धि भी है, नायिका पद्मिनी थी। अतः सुगन्ध की विशेष योग्यता के कारण व्यतिरेक है।

अर्थान्तरन्यास :—जब अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा प्रस्तुत अर्थ का कथन होता है तो अर्थान्तरन्यास होता है। दृष्टान्त व अर्थान्तरन्यास में बहुत अल्प भेद होता है। अर्थान्तरन्यास में अप्रस्तुत से प्रस्तुत का समर्थन होता है, किन्तु दृष्टान्त में समर्थन न होकर दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब स्थिति प्रधान होती है। यथा :—

'राम-भजन बिन भव नहीं छूटे, यत्न बिना कब बाधा टूटे।'
में समर्थन स्पष्ट है।

काव्यलिंग :—जब भेदक तत्व के आधार पर किसी वस्तु का प्रामाणिक परिचय दिया जावे तो काव्यलिंग अलंकार होता है। जैसे कहा जावे कि 'वहां आग है, देखो धुँआ उठ रहा है' तो धुँआ से आग का समर्थन होगा क्योंकि धुँआ आग का परिचायक होता है। अतः काव्यलिंग है।

विभावना :—जहाँ बिना कारण के कार्य हो या बिना कार्य के कारण हो, वहां विभावना अलंकार होता है। यथा :—

'बिनु पद चलै, सुनै बिनु काना'

में बिना कारण के कार्य हुआ है। अथवा

'यद्यपि इँधन जरि गये, अरिगन केशवदास।
तदपि प्रतापानलन के, पल पल बढ़त प्रकाश ॥'

में कारण के बिना कार्य हुआ है।

विशेषोक्ति :—विभावना से ठीक विपरीत 'विशेषोक्ति' अलंकार होता है। जब कारण उपस्थित होने पर भी कार्य नहीं होता तो 'विशेषोक्ति' कहते हैं :—'पानी रहने पर भी प्यास नहीं बुझती' में विशेषोक्ति है, क्योंकि कारण 'पानी' की उपस्थिति पर भी कार्य 'प्यास का बुझना' संभव नहीं हो सका है।

विरोधाभास :—एक ही स्थान पर दो विरोधी बातों का कथन कर सहृदय के मन में असमंजस उठाना और फिर उसका परिहार करना विरोधाभास है। इसका अर्थ है विरोध का आभास देना, अतः 'आभास' होने के कारण 'परिहार' भी आवश्यक होता है।

'या अनुरागी चित्त की गति समझे नहीं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़े श्याम रंग त्यों त्यों उज्वल होय ॥'

में श्याम और उज्वल का विरोध तो है, पर उज्वल का अर्थ पवित्र और श्याम का 'कृष्ण' लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है।

परिसंख्या :—जब वस्तु को, जहाँ वह दोषमय स्थिति में है, वहाँ से हटाकर गुणकारी स्थान पर रख देते हैं, तब परिसंख्या अलंकार होता है। स्थान-परिवर्तन द्वारा दोष को गुण बना देना ही परिसंख्या अलंकार है। यथा:—

'मूलन ही की जहाँ अधोगति 'केसव' गाइय।
होम-हुतासन-धूम नगर एकै मलिनाइय॥'

में मलिनता को होम-हुतासन-धूम में दिखाकर गुणमय बनाया गया है।

परिकरांकुर अलंकार :—जब विशेष्य को किसी विशेष प्रयोजन से प्रयोग में लाया जावे तो परिकरांकुर अलंकार होता है:—

'सातौ दीपन के अवनी पति, हारि रहे जिय में जब जाने।
बीस बिसे ब्रत भंग भयो, सु कहौ अब 'केशव' को धनु ताने॥'

में 'बीस बिसे' का प्रयोग। इसी तरह यदि कहा जावे 'संकट-मोचन संकट हरें' तो संकट-मोचन का प्रयोग 'परिकरांकुर' के अन्तर्गत मान्य होगा।

सहोक्ति अलंकार :—जब एक ही क्रियापद के प्रयोग से 'सह', 'साथ' आदि शब्दों का आश्रय लेकर कई घटनाओं को एक में बाँध कर कथन होता है तब 'सहोक्ति' कहलाता है। इसका अर्थ है 'सह + उक्ति'। गीतावली के पद संख्या ९० में इसका सुन्दर उदाहरण मिलता है:—

'गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाइ लियो।
नृपगन मुखनि समेत नमित करि, सजि सुख सबहि दियो॥'

में 'समेत' शब्द के प्रयोग से 'नमित करि' क्रिया धनुष पर तो लगती ही है, नृपगन के मुखों के लिये भी प्रयुक्त है।

स्वभावोक्ति :—जहाँ वस्तु के स्वभाव का स्वाभाविक कथन हो, वहाँ स्वभावोक्ति अलंकार होता है। यथा :—

'जो हौं कहौं रहिए, तोप्रभुता प्रगट होत,
चलन कहौं तो हित हानि नाहिं सहनो।
भावै सो करहु, तो उदासभाव प्राननाथ,
साथ लै चलहु, कैसे लोक-लाज बहनो ॥' (केशव)

क्रमालंकार :—जब कथित बातों के क्रम के आधार पर पोषक बातों का कथन हो या जब उपमेय के क्रम पर उपमान का कथन हो और उसी क्रम पर उनके गुण आदि का कथन हो तो क्रमालंकार होता है। यथा :—

'भुजनि भुजंग सरोज नयननि, बदन बिधु जीत्यो लरनि।
रहे कुहरनि, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरि डरनि ॥'

में जिस क्रम से भुजा, नयन, बदन आये हैं, उसी क्रम से उनके उपमान :—भुजंग, सरोज और बिधु का कथन हुआ है और उसी क्रम से उनके वासस्थान :—विवर, सलिल और नभ भी वर्णित हैं।

तद्गुण अलंकार :—जब काव्य में ऐसा वर्णन हो कि प्रभावाधिक्य के कारण एक वस्तु, दूसरी वस्तु का रूप, रंग या गुण पा ले तो तद्गुण अलंकार होता है। यथा :—

'अधर धरत हरि के परत, ओठ, दीठ पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष-रंग होति ॥'

अतद्गुण अलंकार :—जब वस्तु पर प्रभाव पड़ता तो दिखाया जावे पर उससे दूसरी वस्तु प्रभावित होकर अपना गुण न छोड़ दे तब अतद्गुण अलंकार होता है। यथा :—

'सूरदास की कारी कमरी चढ़ै न दूजौ रंग।'

मीलित अलंकार:—जब रूप, गुण या धर्म में से किसी एक की समानतावश एक वस्तु दूसरे से एकदम मिल जावे तो मीलित अलंकार होगा—

'पानपीक अधरान में सखी लखी नहिं जाय।'

में अधर की लालिमा में 'पान का पीक' मिलकर एक रूप हो गया है।

उन्मीलित अलंकार:—जब दो वस्तुयें सादृश्य के आधार पर मिली-सी तो हों पर किसी विशेष गुण के कारण उनका अलगाव भी स्पष्ट हो जाता हो तो उन्मीलित अलंकार होता है। कविवर बिहारी ने शुक्ला-अभिसारिका का कथन किया है। शुक्ला-अभिसारिका अपने श्वेत परिधान और अपने वर्ण की द्युति के कारण रात की चाँदनी में मिल गयी है, किन्तु वह पद्मगंधा पद्मिनी है, अतः रात में कमल की असंभावित सुगन्धि का अनुभव कर लोग यह समझ जाते हैं कि कोई शुक्ला-अभिसारिका अभिसार के लिये जा रही है। पद्मगंध के कारण इस परिचय का मिलना ही उन्मीलित अलंकार का परिचायक है:—

'जुवति जोन्ह में मिलि गई, नैन न होत लखाइ।
सोंधे के डोरन लगी, अली चली संग जाइ॥'

निदर्शना:—दो भिन्न पदार्थों में उपमा के द्वारा संबन्ध की स्थापना करना ही 'निदर्शना' अलंकार है। इस समानता को दिखाने के लिये जे, से, ते आदि सम्बन्धवाचक शब्दों का प्रयोग होता है। किन्तु यह प्रयोग न भी हो तो भी 'निदर्शना' हो सकती है। निदर्शना के तीन भेद मान्य हैं:—

(१) प्रथम निदर्शना:—'वाणी मधुमय सोहती, मधु-मिश्री के रूप' में वाणी और मधु-मिश्री के बीच समानता दिखायी गयी है।

इसमें वाक्य असमान हैं। इसी प्रकार जे, से लगाकर भी असमान वस्तुओं में एकता स्थापित की जाती है।

(२) द्वितीय निदर्शना :—जब उपमेय या उपमान के गुण का आरोप एक दूसरे में दिखाई पड़े तो द्वितीय निदर्शना होती है। यथा :—

'जेहि दिन दसन-जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
रबि-ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥'

(३) तृतीय निदर्शना :—जब एक सत् अथवा असत् वाक्य के द्वारा दूसरों को शिक्षा दी जावे तो तृतीय निदर्शना होती है :—

'तप बल पद पावै अचल, खीन पुन्य गिरि जाइ।
उन्नत ह्वै ध्रुव कहत अरु, उडु गिरि रहे बताइ ॥'

दीपक :—जब उपमेय और उपमान दोनों की गुण और क्रिया एक ही बतायी जाय, तो दीपक कहलाता है अर्थात् जब दोनों पक्ष का एक ही धर्म कहा जावे तो दीपक होता है। वक्रोक्तिकार ने इसका उदाहरण दिया है, जिसका अर्थ है :—'महाकवि शब्दों के, पुराना जौहरी मुक्ता रत्नों के और बूढ़ा माली फूलों के स्थान और अस्थान को जानता है। इस उदाहरण में 'स्थान और अस्थान को जानता है।' के द्वारा उपमेय और उपमान के समान धर्म का कथन हुआ है।

मुद्रा अलङ्कार :—मुद्रा अलंकार वह अलंकार है जिसमें प्रस्तुत शब्द या पद के द्वारा अन्य विशिष्ट अर्थ का भी बोध होता है :—

'मर मिटना भी है एक हमारी क्रीड़ा।
पर भरतवाक्य है सहूँ विश्व की व्रीड़ा ॥'

में 'भरत-वाक्य' के द्वारा मुद्रा अलंकार पुष्ट हुआ है। इसी प्रकार साकेत का दूसरा प्रसंग भी मुद्रा अलङ्कार का पोषक है :—

'करुणे, क्यों रोती है ? उत्तर में और अधिक रोई ।
मेरी विभूति है जो उसको भवभूति कहे क्यों कोई ।।'

में भवभूति का अर्थ है संसार की विभूति पर अन्य अर्थ होगा करुण रस के प्रमुख कवि 'भवभूति ।'

अतिशयोक्ति:—जहाँ वर्ण्य वस्तु की अपेक्षित प्रशंसा से अधिक प्रशंसा की जावे वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है । यथा:—

'हनूमान की पूँछ में लगन न पाई आग ।
लंका सगरी जल गई, गये निशाचर भाग ।।'

इस अतिशयोक्ति के भी ६ भेद हैं । नाम जान लेना आवश्यक है:—

(१) रूपकातिशयोक्ति (२) भेदकातिशयोक्ति (३) अक्रमातिशयोक्ति (४) चपलातिशयोक्ति (५) अत्यन्तातिशयोक्ति (६) सम्बन्धातिशयोक्ति । प्रस्तुत उदाहरण 'अत्यन्तातिशयोक्ति' का परिचायक है।

समासोक्ति:—जब सामान्य विशेषण होने के कारण प्रस्तुत के कथन से ही अप्रस्तुत का भी कथन हो जावे तो 'समासोक्ति' होता है । समासोक्ति में विशेषण के आधार पर अप्रस्तुत का स्पष्टीकरण होता है किन्तु अन्योक्ति में अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत का बोध होता है । इसी लिये अन्योक्ति अलंकार 'अप्रस्तुत प्रशंसा' के अन्तर्गत आता है और समासोक्ति नहीं । समासोक्ति का एक उदाहरण:—

'पीलहि पील दिखावा, भए दुऔ चौदाँत ।
राजा चहै बुर्द भा, साह चहै शहमात ।।'

में राजा का 'बुर्द' होना और साह का 'शहमात' करना सतरंज के खेल को भी प्रगट करता है और अप्रस्तुत अर्थ अलाउद्दीन के मन्तव्य को भी।

अन्योक्ति :—अप्रस्तुत प्रशंसा का एक प्रकार है 'अन्योक्ति' अलंकार। इसमें अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का कथन होता है :—

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बिध्यो आगे कौन हवाल॥'

जैसे अप्रस्तुत अंश से बिहारी ने अपने समय के नरेश जयशाह पर अन्योक्ति की है। अन्योक्ति को ही 'सारूप्य—निबंधना' भी कहते हैं।

व्याज-स्तुति :—जहाँ व्यंजना की ध्वनि सुनायी पड़े अर्थात् जहाँ स्तुति के द्वारा निंदा या निंदा के द्वारा स्तुति का प्रयोजन सिद्ध हो, व्याज-स्तुति होता है। यदि कहा जावे कि 'बौड़लवा शंकर भाँग-धतूरा खाने वाले हैं' तो इसमें भाँग-धतूरा अपने निंद्य रूप में प्रयुक्त न होकर उनकी मस्ती का द्योतक बन जाता है और इस प्रयोग से शंकर की निंदा न होकर उनकी मस्ती की स्तुति ही होती है। यमुना की स्तुति में यदि कहा जावे कि वह अविवेकिनी अपने साथ पापी को लेकर अपने भाई यम को अपमानित कर रही है तो इससे स्पष्ट में तो निंदा ज्ञात होगी कि वह भाई का विरोध कर रही है, पर है प्रशंसा; क्योंकि इससे उसके 'पतितपावनी' रूप का स्पष्टीकरण होता है।

(३) उभयालंकार :—उन अलंकारों को उभयालंकार की संज्ञा प्राप्त होती है जिनमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों मिले हुये रहते हैं। 'कजरारी अँखियान में कजरा री न लखात' में यदि अलंकार निरूपण किया जावे तो इसमें एक ओर तो सभंग यमक का परिचय मिलता है और दूसरी ओर मीलित अलंकार का। सभंग यमक कोशब्दालंकार माना गया है और मीलित को अर्थालंकार। जिन पदों में ये दोनों होते हैं, उनमें उभयालंकार की पुष्टि होती है, अतः 'कजरारी' और 'कजरा री' में उभयालंकार हो जावेगा। उभयालंकार के दो मुख्य भेद हैं :—

(१) संसृष्टि (२) संकर। संसृष्टि में दो अलंकार मिले रहते हैं। इसके तीन रूप होते हैं—१. शब्दालंकार संसृष्टि:—जहाँ दो शब्दालंकार मिले हों। २. अर्थालंकार संसृष्टि:—जहाँ दो अर्थालंकार मिले हों। ३. शब्दार्थालंकार संसृष्टि:—जहाँ शब्दालंकार व अर्थालंकार मिलकर प्रयुक्त हों।

संकर अलंकार में दो अलंकार इस प्रकार मिले होते हैं कि उनका अलगाव कठिन होता है। इसका एक भेद है:—सन्देह संकर। सन्देह संकर तब होता है जब यह निर्णय कठिन हो जाय कि इसमें कौन कौन सा अलंकार है।

कविता और छन्द:—कविता की परिभाषा करते समय यह बताया जा चुका है कि कविता में 'पदलालित्य' का होना आवश्यक होता है। 'पदलालित्य' के लिए ही छन्दों की योजना भी की गयी है। 'छन्द' और 'पद्य' आज एक दूसरे के पर्यायवाची हो गये हैं। 'पद्य' का अर्थ ही आज छन्दोमय रचना के रूप में मान्य है। छन्दोमय रचना का अर्थ है:—'वह रचना जिसमें मात्रा, वर्ण आदि की रक्षा करते हुए आनुप्रासिक ध्वनि के बीच भाव को बाँधा गया हो'। छन्द सम्बन्धी नियमों के प्रणेता का नाम महर्षि पिङ्गल होने के कारण अब छन्द-शास्त्र को पिङ्गल ही कहा जाता है। इस पिङ्गल या छन्द-नियम के पालन से कविता का कला पक्ष निखरता है और उसमें पदलालित्य आता है। आज प्रयोगवादियों के हाथ में आकर छन्द की स्थिति पर्याप्त मात्रा में बदल चुकी है और आनुप्रासिकता, मात्रा, वर्ण आदि के नियम शिथिल हो चुके हैं। हमें प्राचीन परम्परा से प्राप्त कुछ छन्दों का परिचय कर लेना आवश्यक हैं। इसी छन्द-परिचय के आधार पर हम प्राचीन और कुछ आधुनिक कवियों की कविता के कलापक्ष की परख कर सकेंगे।

छन्दों के विभिन्न भेदों को समझने के पूर्व हमें मात्रा, वर्ण, गण और गणना-नियम का ज्ञान कर लेना चाहिये।

वर्ण और मात्रा:—वर्ण का अर्थ होता है अक्षर और मात्रा का अर्थ है:—विभिन्न मात्रायें। जब छोटी मात्रा से युक्त अक्षर होते हैं या बिना मात्रा के अक्षर होते हैं तो उन्हें गणना की दृष्टि से लघु मानते हैं, किन्तु जब बड़ी मात्रा से सम्पन्न अक्षर होता है तो उसे दीर्घ या गुरु कहते हैं। लघु का संकेतक चिह्न है—'।'–; और गुरु का संकेतक चिह्न—'ऽ'। अतः अगर 'राम' कहा जावे तो 'रा' गुरु होगा और 'म' लघु। जब संयुक्ताक्षर होते हैं तो आरम्भ में आधा अक्षर होंने पर उसकी गणना नहीं की जाती, किन्तु मध्य में होने पर पूर्व का अक्षर द्वित्व होकर गुरु मान लिया जाता है। यदि यह पूर्व का अक्षर पहले से ही गुरु हो तो उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि 'न्ह' लिखा हो तो आरम्भ में आधा न होने के कारण उसका कोई मूल्य न होगा। जब 'नन्द' लिखा जावेगा, तब मध्य में आधा न होने से पूर्व का 'न' लघु होकर भी गुरु हो जावेगा और मात्रा तीन मानी जावेगी। यदि 'कान्ह' होगा तो भी मात्रा तीन ही होगी क्योंकि 'का' पहले से ही गुरु है और उस पर आधे 'न' का कोई प्रभाव नहीं हो सकता है। अनुस्वार और विसर्ग युक्त अक्षर भी लघु होने पर दीर्घ माने जाते हैं, किन्तु चन्द्रबिन्दु का कोई प्रभाव नहीं होता। अनंग में नं = दो मात्रा मानी जावेगी।

मात्रिक और वर्णवृत्त:—जब पदों में मात्रा की समता बतायी जाय अर्थात् प्रत्येक चरण में मात्रा का क्रम कुछ भी हो पर कुल योग समान हो तो 'मात्रिक' छन्द होता है; किन्तु जब पद के प्रत्येक चरण में मात्रा का क्रम भी एक सा हो और कुल योग भी, तो वर्णिक छन्द होता है। मात्रिक की गणना में मात्रा के क्रम का विचार नहीं होता। वर्णिक की

गणना में इसका विचार होता है। इस क्रम को 'गण' कहते हैं। पिङ्गल-नियम के अनुसार गण की संख्या आठ मानी गयी है:— यगण, मगण, तगण, रगण, जगण, भगण, नगण, सगण। इन गणों की मात्रा को गिनने के लिये एक सूत्र दिया गया है:—'यमाताराजभान सलगम्'। इस सूत्र में 'ल' और 'गम्' का अर्थ है लघु और गुरु। इस सूत्र के हर तीन क्रम-पूर्ण अक्षरों की मात्रा को मिलाकर एक गण बनता है। यथा:—

यगण = य मा ता = । ऽ ऽ
मगण = मा ता रा = ऽ ऽ ऽ
तगण = ता रा ज = ऽ ऽ ।
रगण = रा ज भा = ऽ । ऽ
जगण = ज भा न = । ऽ ।
भगण = भा न स = ऽ । ।
नगण = न स ल = । । ।
सगण = स ल गम् = । । ऽ

छन्दों के प्रकार:—छन्द मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं:— (१) मात्रिक (२) वर्णिक। मात्रिक छन्द के तीन भेद हैं:—सम, अर्धसम, विषम। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

सम-मात्रिक:—जिन मात्रिक छन्दों के हर चरण समान मात्रा वाले होते हैं, उन्हें सम-मात्रिक कहते हैं। सम-मात्रिक के मुख्य छन्द हैं:—

(१) चौपाई:—चौपाई में चार चरण होते हैं। दो चरण एक ही पंक्ति में लिखे जाते हैं, इस प्रकार दो पंक्तियों का दर्शन होता है। इसमें प्रतिचरण १६ मात्राओं का विधान है। चरण के अन्त में 'ऽ।' नहीं होता। यथा:—

S S || || ||| |S S = १६ = ||| |S| ||| ||S S = १६
'बंदौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ॥

||| S| ||S|| S S = १६ = ||| ||| |||| ||S S = १६
अमिअ मूरि मय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू ॥'

—'तुलसी'

(२) रूपमाला:—रूपमाला के प्रत्येक चरण में २४ मात्रायें होतीं हैं और हर चरण में १४ और १० मात्रा पर यति होती है। चरण के अन्त में (S।) का होना मान्य है। यदि आरंभ में S।S हो तो सुन्दर होता है।

S| S|| S| S|| = १४; S| S|| S| = १० = २४
'पूजि रोचन स्वच्छ अच्छन, पट्ट बाँधिय भाल।
भूषि भूषण शत्रु दूषण, छोड़ियो तिहि काल॥
संग लै चतुरंग सैनहिं, शत्रु-हन्ता साथ।
भाँति भाँतिन मान दै, पठये सु श्री रघुनाथ॥'—'केशव'

(३) रोला:—रोला के प्रत्येक चरण में ११ और १३ के यति से २४ मात्रायें होती हैं। यदि चरणांत में (S) गुरु वर्ण हो तो सुन्दर है।

||| S| S ||| = ११; S| || |||| SS = १३ = २४
'कबहुँ बायु सौ बिचलि, बंक गति लहरति धावैं।
मनहुँ सेस सित-बेस, गगन तें उतरत आवैं॥'

—'रत्नाकर'

(४) गीतिका:—गीतिका में २६ मात्रायें प्रतिचरण में होतीं हैं। १४ और १२ मात्राओं पर यति होती है। अन्त में (।S) लघु-गुरु का होना आवश्यक है:—

S|S ||S| || S = १४; S| S ||S| S = १२ = २६
'सांवरे घनश्याम तुमतो, प्रेम के अवतार हो।

ऽ।ऽ ऽ।।। । ऽऽ=१४;ऽ।ऽ ऽ ऽ। ऽ=१२=२६
देखना निष्फल न मेरे, आँसुओं की धार हो॥'

(५) हरिगीतिका:—प्रति चरण २८ मात्रा वाला छन्द हरिगीतिका होता है। १६ व १२ मात्रा पर विराम हुआ करता है। अन्त में (।ऽ) लघु और गुरु का क्रम रहता है:—

ऽ ऽ। ऽऽ ऽ। ।। ऽऽ। ऽ ऽऽ।ऽ
'हे वीर देखो आज तुम संग्राम में कैसे लड़े।

।। ।। ऽऽऽ ऽ।ऽ ऽ।। ऽ ।।ऽ।ऽ
मर कर तुम्हारे हाथ से ये शत्रु हैं कितने पड़े॥

अर्धसम मात्रिक छन्द:—

(१) दोहा:—इस छन्द के प्रथम व तृतीय चरण में १३ मात्रा होती है और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में ११ मात्रा। इस प्रकार यह अर्धसम है। द्वितीय और चतुर्थ चरण के अन्त में लघु मात्रा रहती है। यदि प्रथम और तृतीय चरण के आदि में (।ऽ।) न आवे तो अच्छा माना जावेगा:—

ऽ। ।ऽ। ।ऽ। ।।=१३, ।।ऽ ऽ। ।ऽ।=११
बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु, हरषे बन्धु समेत।

।।। ऽ। ऽऽ। ।। =१३, ऽ ऽ।। ।। ऽ।
परम रम्य आरामु यहु, जो रामहिं सुख देत॥

—'तुलसी'

(२) सोरठा:—यह छन्द दोहा का उल्टा होता है। इसके प्रथम व तृतीय चरण में ११ मात्रायें होती हैं, और द्वितीय तथा चतुर्थ में १३ मात्रायें। इसके द्वितीय तथा चतुर्थ चरण के अन्त में तुक न मिलकर प्रथम और तृतीय के अन्त में तुक मिला करता है:—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ। = ११, ऽ । ऽ । ।।।। ।ऽ = १३
'मोहूँ दीजै मोष, ज्यों अनेक अधमन दियो।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ। = ११; ऽ ऽ ऽ ।। ऽ ।।। = १३
जो बाँधे ही तोष, तौ बाँधौ अपने गुननि॥'

(३) बरवै :—प्रथम चरण एवं तृतीय चरण में १२ मात्रायें होती हैं, तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में ७–७ मात्रायें रहती हैं। दूसरे और चौथे चरण के अन्त में (। ऽ ।) होने से जगण होता है:—

ऽ। ।।। ।। ऽ।। = १२; ।।।।ऽ। = ७
'सात दिवस भए साजत सकल बनाउ।

ऽ ऽ।। ।। ऽ।। = १२; ।।। ।ऽ । = ७
का पूछहु सुठि राउर सरल सुभावु॥'

अयोध्याकाण्ड (बरवै रामायण)

(४) उल्लाला :—प्रथम और तृतीय चरण में १५ तथा द्वितीय और चतुर्थ चरण में १३ मात्राओं से युक्त रहने वाले छन्द को उल्लाला की संज्ञा दी गयी है।

।।ऽ ।।ऽ। ।ऽ। ऽ = १५, ।।ऽ ऽ ।। ऽ। ऽ = १३
'करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।

ऽ ऽ।ऽ। ऽ ऽ। ऽ = १५, ।।। ऽऽ ।ऽ।ऽ = १३
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की॥'

विषम-मात्रिक छन्द :—

(१) कुण्डलियाँ :—इसमें कुल ६ चरण होते हैं। पहले दो चरण दोहा के, और अन्तिम चार रोला के मिलकर कुण्डलियाँ बनाते हैं। दोहा का चतुर्थ चरण, रोला का प्रथम चरण भी बनकर प्रयुक्त होता है:

दोहा—'साईं बेटा बाप के, बिगरे भयो अकाज।
हरनाकुस अरु कंस को, गयो दुहुन को राज॥

रोला—गयो दुहुन को राज, बाप बेटा के बिगरे।
दुश्मन दावागीर, भए महि मण्डल सिगरे॥
कह गिरधर कविराय, जुगुत याही चलि आई।
पिता पुत्र के बैर, नफा कहु कौने पाई॥'

(२) छप्पय :—छप्पय में ६ चरण होते हैं। पहले चार चरण २४-२४ मात्राओं के रोला छन्द में होते हैं और अन्तिम दो २८-२८ मात्राओं के उल्लाला में। अतः यह छन्द रोला व उल्लाला के संयोग से बना है। तुलसीकृत हनुमान बाहुक का यह छप्पय देखिये :—

रोला—सिन्धु-तरन सिय-सोच-हरन रवि-बाल-बरन-तनु।
भुज विसाल, मूरति कराल, कालहु को काल जनु॥
गहन-दहन-निरदहन-लंक, निःशंक, बंक भुव।
जातुधान-बलवान-मान-मद-दवन पवनसुत॥
उल्लाला—कह तुलसीदास सेवत सुलभ, सेवक हित संतत निकट।
गुन गनत, नमत सुमिरत, जपत समन सकल संकट विकट॥

वर्णवृत्त छन्द :—इस प्रकार के छन्दों में मात्राओं का क्रम प्रतिचरण में समान रहता है। गणना में गणों की सहायता ली जाती है। इसमें अक्षर और मात्रा दोनों ही प्रत्येक चरण में महत्त्व रखते हैं यदि प्रथम चरण की मात्रा २४ व अक्षर १६ हैं, तो द्वितीय में भी यही स्थिति रहेगी।

इन्द्रवज्रा :—प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर होते हैं और मात्रा-गणना का क्रम तगण, तगण, जगण, ऽऽ होता है अतः मात्रायें अट्ठारह होती हैं :—

ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
प्राणेश से दूर रहूँ न मैं हा = (त त ज ऽऽ)

ऽ ऽ । ऽ ऽ । । ऽ । ऽ ऽ
जो दूर हो लूँ फिर प्यार ही क्या

S S IS S I I S I S S
तू ही बता क्या सखि प्यार है ये

S S I S S I I S I S S
प्यारे रहें दूर, रहूँ यहीं मैं ॥'

उपेन्द्रवज्रा :—प्रत्येक चरण में जगण, तगण, जगण के क्रम से मात्राएँ रहती हैं और इनके बाद दो गुरु रहते हैं। कुल अक्षरों की संख्या ग्यारह होती है। (ज त ज ग ग)

I S I S S I I S I S S
अनेक ब्रह्मादि न अन्त पायो। =(ज त ज SS)

I S I S S I I S I S S
अनेकधा वेदन गीत गायो ॥

I S I S S I I S I S S
तिन्हें न रामानुज बन्धु जानौ।

I S I S S I I S I S S
सुनौ सुधी केवल ब्रह्म मानो ॥ —केशवदास

वंशस्थ :—प्रत्येक चरण में बारह अक्षर वर्ण होते हैं। गणना का क्रम होता है:—जगण, तगण, जगण, रगण।

I S I S S I I S I S I S —(ज त ज र)
'विमुग्धकारी मधुमंजु मास था, वसुंधरा थी कमनीयतामयी।
विचित्रता साथ विराजिता रही, बसन्त वासन्तिकता बनान्त में ॥

वसंततिलका :—इसकी गणना का क्रम है तगण, भगण, जगण, जगण, SS—इस प्रकार इसमें कुल चौदह अक्षर होते हैं।

S S I S I I I S I I S I S S =(त भ ज ज S S)
'भू मे रमी शरद की कमनीयता थी।
नीला अनन्त नभ निर्मल हो गया था ॥

थी छू गयी कुंकुम मे अमितासिताभा ।

उत्फुल्ल सी प्रकृति थी प्रतिभात होती ॥'

द्रुतविलम्बित :—इसकी मात्रा का क्रम है नगण, भगण, भगण, रगण । इसमें अक्षरों की कुल संख्या १२ होती है ।

।।। ऽ।। ऽ।। ऽ। ऽ=(न भ भ र)

'कह चुकी प्रिय साधन ईश का, कुंवर का प्रिय साधन है यही ।

इसलिये प्रिय की परमेश की, परम पावन भक्ति अभिन्न है ॥'

मन्दाक्रान्ता :—इसकी मात्रा का क्रम है मगण, भगण, नगण, तगण, तगण ऽ ऽ और इस प्रकार १७ अक्षरों का प्रतिचरण में होना आवश्यक होता है ।

ऽ ऽ ऽ ऽ ।।।।। ऽ ऽ। ऽ ऽ। ऽ ऽ=(म भ न त त ऽऽ)

'मैं हूं ऊधौ पुलकित हुई आप को आज पाके,

सन्देशों को श्रवण करके और भी मोदिता हूं ।'

मालिनी :—इसमें पन्द्रह अक्षर होते हैं। प्रत्येक चरण में नगण, नगण, मगण, यगण, यगण का क्रम होता है :—

।।।।। ।।ऽऽ ऽ। ऽ ऽ ।ऽ ऽ=(न न म य य)

प्रिय—पति वह मेरा प्राण—प्यारा कहाँ है ?

दुख जलनिधि-डूबी का सहारा कहाँ है ?

लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ ।

वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है ?

भुजङ्गप्रयात :—यगण, यगण, यगण, यगण के क्रम से बारह अक्षरों से बने हुए छन्द को भुजङ्गप्रयात कहते हैं।

।ऽ ऽ।ऽ ऽ।ऽ ऽ ।ऽऽ =(य य य य)

कहूँ किन्नरी किन्नरी लै बजावै ।

सुरी आसुरी बाँसुरी गीत गावै ॥

कहूँ यच्छिनी पच्छिनी तै पढ़ावैं।
नगी-कन्यका पन्नगी को नचावैं॥' (केशवदास)

शिखरिणी :—१७ अक्षरों से युक्त उस छन्द को शिखरिणी छन्द कहते हैं जिसमें यगण, मगण, नगण, सगण, भगण, लघु और गुरु का क्रम होता है।

ISS SS S III IIS SIII S=(य म न स भ I S)
'अनूठी आभा से सरस सुषमा से सरस से।
बना जो देती थी, बहु गुणमयी भू विपिन को॥'

पंचचामर :—१६ अक्षरों से पूर्ण उस छन्द को पंचचामर कहते हैं, जिसमें जगण, रगण, जगण, रगण, जगण और गुरु का क्रम हो (ज र ज र ज S)।

ISI SI SI SISI SI S IS=(ज र ज र ज S)
'हिमाद्रि तुङ्ग शृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभा समुज्वला स्वतन्त्रता पुकारती॥
अमर्त्य वीर पुत्र हो दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है बढ़े चलो बढ़े चलो॥

तोटक :—तोटक छन्द में प्रति चरण १२ अक्षर होते हैं और सगण की चार बार आवृत्ति होती है :—

II SI IS II S I IS=(स स स स)
'रहि पूरि विमानति व्योम थली। तिनको जनु टारन भूमि चली॥
परि पूरि अकासहिं धूरि रही। सु गयो मिटि सूर-प्रकास सही॥'

सवैया :—उन छन्दों को सवैया की संज्ञा दी जाती है, जिनमें २२ से २६ तक के बीच के वर्णों की संख्या रहती है। इनके कई भेद हैं—

मदिरा सवैया :—इसके प्रत्येक चरण में ७ भगण और एक गुरु होता है। इस प्रकार २२ वर्ण होते हैं :—

(ऽ । ।)(ऽ । ।) (ऽ । ।) (ऽ । ।)(ऽ । ।) (ऽ । ।) (ऽ । ।)ऽ
'को भरिहै हरि के रितये, रितवै पुनि को हरि जौ भरिहैं।'

जैसी पक्तियों से युक्त सवैया मदिरा सवैया कहलावेगी।

मत्तगयन्द सवैया :—इसके प्रत्येक चरण में ७ भगण और अन्त में दो गुरु होते हैं अतः २३ वर्णों की योजना होती है:—

ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ ऽ
'रामगुलाम तुही हनुमान गुसाँई सुसाँई सदा अनुकूलो।

पाल्यौ हौं बाल ज्यों आखर दू पितु-मातु ज्यों मंगल मोद समूलो॥

बाहु की वेदन, बाँह पगार ! पुकारत आरत आनन्द भूलौ।

श्री रघुबीर निवारिये पीर, रहौं दरबार परो लटि लूलौ॥'

'गुसाँई' व 'सुसाँई' में लिखने में बड़ा 'ई' का प्रयोग है पर पढ़ने में ध्वनि छोटी 'इ' की है, अतः मात्रा एक ही (लघु) गिनी गयी है।

सुन्दरी सवैया :—इसमें २५ वर्णों की योजना होती है। गणना-क्रम से इसमें आठ सगण और एक गुरु होता है।

(। । ऽ)(। । ऽ) (। । ऽ)(। । ऽ) (। । ऽ (। । ऽ) (। । ऽ)(। । ऽ) ऽ
'दिग पालन की भुव पालन की लोकपालन की किन मातु गई च्वै।

कत भाँड़ भये उठि आसन ते कहि 'केशव' शंभु सरासन को छ्वै॥

काहू चढ़ायो न काहू नवायो न काहू उठायो न आँगुरहू द्वै।

स्वारथ भो न भयो परमारथ आये ह्वै बीर चले बनिता ह्वै॥'

(केशव)

'लोकपालन' में 'लो' 'गुरु' है पर पाठ में लघु रूप लेता है, अतः उसकी मात्रा लघु मानी गयी है।

दुर्मिल सवैया :—इसमें चौबीस वर्णों की योजना होती है। गणना-क्रम से इसमें आठ सगण होते हैं:—

(। । ऽ)(। । ऽ)(। । ऽ) (। । ऽ) (। । ऽ)(। । ऽ) (। । ऽ)(। । ऽ)
'सुत, दार, अगार, सखा, परिवार बिलोकि महा कुसमाजहि रे।

सबकी ममता तजिकै, समता सजि संत सभा न बिराजहि रे ॥
नर देह कहा, करि देखु विचार, बिगार गँवार न का जहि रे ।
जनि डोलहि लोलुप कूकर ज्यों, 'तुलसी' भजु कोसल-राजहि रे ॥'

किरीट सवैया:—२४ वर्णों वाले उस छन्द को किरीट सवैया कहते हैं, जिसमें ८ भगण हों:—

(ऽ । ।)(ऽ । ।) (ऽ । ।) (ऽ । ।) (ऽ । ।)(ऽ । ।)(ऽ । ।)(ऽ । ।)
'जाके विलोकत लोकप होत विसोक, लहैं सुरलोग सुठौरहिं ।
सो कमला तजि चंचलता करि कोटि कला रिझवै सुरमौरहिं ॥
ताको कहाय, कहै तुलसी, तू लजाहि न माँगत कूकर कौरहिं ।
जानकि जीवन को जन ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाँचत औरहिं ॥'

'के' को पाठ में लघु मानकर मात्रा भी लघु मानी गयी है। इसी प्रकार तीसरी पंक्ति में 'को' और 'तू' तथा चौथी पंक्ति में 'सो' भी गुरु है पर छन्दावेश से लघु माना गया है और इसीलिये मात्रायें भी लघु मानी गयी हैं।

दण्डकवृत्त के मुक्तक छन्द:—२६ से अधिक वर्ण वाले छन्दों को दण्डकवृत्त की संज्ञा दी गयी है। दण्डकवृत्त के मुक्तक छन्द में वर्ण तो २६ से अधिक होते हैं, पर मात्रा की गणना गणों के आधार पर न होकर केवल वर्ण के आधार पर होती है।

कवित्त-मनहर:—३१ वर्ण वाला वह छन्द जिसमें १६ और १५ वर्ण पर यति हो 'मनहरकवित्त' है:—

लालची ललात, बिललात द्वार द्वार दीन, = १६
बदन मलीन, मन मिटै न बिसूरना। = १५
ताकत सराध कै विवाह कै उछाह कछु, = १६
डोलै लोल बूझत सबद ढोल तूरना ॥ = १५
प्यासे हू न पावै बारि, भूखे न चनक चारि, = १६

चाहत अहारन पहार दारि कूरना । = १५
सोक को अगार दुख-भार-भरौं तौलौं जन, = १६
जौ लौं देवी द्रवै, न भवानी अन्नपूरना ॥ = १५ तुलसी

रूप-घनाक्षरी :—प्रत्येक चरण में ३२ अक्षर होते हैं, १६ अक्षर पर विराम होता है । अन्त में लघु होना चहिये । तुलसी कृत कविता-वली के इस १० वें पद को देखिये :—

प्रभु रुख पाइकै बोलाइ बाल घरनिहिं, = १६
बँदि कै चरन चहूँ दिसि बैठे घेरि घेरि । = १६
छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगा जू को, = १६
धोइ पाँय पीयत पुनीत वारि फेरि फेरि ॥ = १६
तुलसी सराहैं ताको भाग सानुराग सुर, = १६
वरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि । = १६
बिबुध-सनेह-सानी बानी असयानी सुनी, = १६
हँसे राघौ जानकी लषन तन हेरि हेरि ॥ = १६

देव-घनाक्षरी :—इस प्रकार के पद में प्रत्येक चरण में ३३ अक्षर होते हैं । ८, ८, ८, ९ के क्रम से विराम होता है । अन्तिम तीन अक्षर लघु माने गये हैं :—

झिल्ली झनकारैं पिक, चातक पुकारैं बन, = १६
मोरनि गुहारैं उठे, जुगनू चमकि चमकि । = १७
घोर-घन-कारे भारे, धुरवा धुरारे धाय, = १६
धूमनि मचावै नाचै, दामिनि दमकि दमकि = १७
झूकनि बयारि बहै, लूकनि लगावैं अङ्ग, = १६
हूकनि भभूकनि की, उर मैं खमकि-खमकि । = १७
कैसे करि राखौं प्रान, प्यारे जसकंत बिना, = १६
नान्हीं-नान्हीं बूँद झरै, मेघवा घमकि घमकि । = १७

कविता और दोष

कविता में कला-पक्ष की अवहेलना होने पर दोष की उत्पत्ति होती है। दोषपूर्ण काव्य का अर्थ है—त्रुटिपूर्ण काव्य। दोष से युक्त काव्य, काव्य-कला की दृष्टि से हेय माना जाता है। संस्कृत के आचार्यों ने दोष के सम्बन्ध में एकमत होकर यही कहा है कि कविता में दोष होने पर कविता लाञ्छित होती है। भाव, अलंकार आदि के होने पर भी दोष की उपस्थिति से कविता हेय हो जाती है। अतः दोषों से बचना चाहिये। काव्य के कुछ प्रमुख दोष इस प्रकार हैं:—

श्रुतिकटुत्व दोष:—श्रुति का अर्थ होता है 'सुनना', और कटुत्व का अर्थ होता है 'कठोर'। इस प्रकार श्रुतिकटुत्व का अर्थ हुआ—'वह प्रयोग जो सुनने में कठोर लगे।' जब मधुर या कोमल भावों का कथन करते समय कर्ण-कटु शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है, तब श्रुति-कटुत्व दोष होता है:—

'उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विक्षेप से।
वर्ण वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के?' (साकेत)

इस पद में वर्ण, वर्ण, कर्ण, सुवर्ण आदि का प्रयोग श्रुति-कटुत्व दोष उत्पन्न करता है।

च्युत-संस्कृति दोष:—जब काव्य में व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग होता है, तब च्युत-संस्कृति दोष उत्पन्न होता है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'काव्याङ्ग-कौमुदी—तृतीय-कला' में इसका सुन्दर उदाहरण दिया है:—

'मृदुल मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा।
तब पिक करती तू शब्द प्रारम्भ तेरा॥'

में 'तेरा' के स्थान पर 'अपना' का प्रयोग होना चाहिये था। 'तेरा' का प्रयोग व्याकरण-विरुद्ध होने के कारण च्युति-संस्कृति-दोष की उत्पत्ति करता है।

अक्रमत्व दोष:—उचित स्थान पर जिस क्रम से शब्द का प्रयोग होना चाहिये, उस क्रम के उसका प्रयोग न करना अक्रमत्व दोष कहलाता है:—

'विश्व में लीला निरन्तर कर रहे वे मानवी' में 'मानवी' का प्रयोग 'लीला' के साथ होना चाहिये था, ऐसा न होने के कारण अक्रमत्व-दोष है।

'बंसी सुन्दर बट जितै, कान्ह चरावन धेनु।'

में 'बंसी सुन्दर बट' न होकर 'सुन्दर बंसी बट' का क्रम होना चाहिये था।

ग्राम्यत्व दोष:—साहित्यिक भाषा के बीच जब किसी विशिष्ट प्रदेश का शब्द या ग्रामीण बोल-चाल का शब्द प्रयुक्त होता है तो 'ग्राम्यत्व-दोष' माना जाता है:—

'धनु है यह गौरमदाइन नाहीं'

में 'गौरमदाइन' शब्द बुंदेलखण्ड का है, अतः उसका प्रयोग ग्राम्यत्व दोष उत्पन्न करता है।

'मूड़ पै मुकुट नहीं, गोड़ में बिवाई है।
देखते दुखद दशा, छूटती रुलाई है॥'

में 'मूड़' और 'गोड़' का प्रयोग भी ग्राम्यत्व-दोष उत्पन्न करता है। ग्रामीण-पात्र के द्वारा कहा जाने पर यह दोष 'दोष' नहीं रह जाता।

अश्लीलत्व दोष:—इस दोष के तीन रूप हैं—(१) अमङ्गल-सूचक अश्लीलत्व—जब प्रयुक्त शब्द से अमङ्गल की ध्वनि प्रकट हो तो अमङ्गलसूचक अश्लीलत्व होगा:—

'मींचि लई अँखिया अधरातक।
कीन्हीं न प्रान पियारे ने बातें ॥'

'मींच लई अँखिया' अमङ्गलसूचक है क्योंकि 'आँख मींचना' का प्रयोग 'मरने' के अर्थ में आता है। (२) घृणाव्यञ्जक अश्लीलत्व—जब प्रयुक्त शब्द से घृणा की ध्वनि आती हो तो घृणाव्यञ्जक अश्लीलत्व होता है। वीभत्स रस में यह दोष दोष नहीं रह जाता:—

'आज तो पन्द्रह अगस्त है।
खुशियाँ हैं छाई हुई, मन में उमंग है॥
चारो ओर मस्ती है, छन रही भंग है।
मैं हूँ लाचार, मुझे आता जो दस्त है॥'

में 'दस्त' आने का प्रयोग घृणाव्यञ्जक है। (३) लज्जाव्यञ्जक अश्लीलत्व—जब प्रयुक्त शब्द से लज्जा की ध्वनि प्रकट हो तो लज्जा-व्यञ्जक अश्लीलत्व माना जावेगा। काव्याङ्ग-कौमुदी-तृतीय कला के पृ० १९१ पर पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसका सुंदर उदाहरण दिया है:—

'बौरे चूतन रंग मैं, हलि हलि अलि झगरैल।'

में 'चूत' का प्रयोग, लज्जा व्यञ्जक अश्लीलत्व का ही परिचायक है।

अप्रतीतत्व दोष:—लोक में अप्रसिद्ध किसी शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग अप्रतीतत्व दोष की उत्पत्ति करता है:—

'सद्गुरु जी के ज्ञान से होगा आशय नाश।
ज्योति मिलेगी भक्ति की, छूटेगा भव-त्रास॥'

में 'आशय' का प्रयोग 'वासना' के अर्थ में है जो योगशास्त्र में ही इस अर्थ में व्यवहृत होता है।

क्लिष्टत्व दोष:—अर्थ को दूरूह बनाने वाले शब्दों का प्रयोग क्लिष्टत्व दोष उत्पन्न करता है:—

'नखत वेद ग्रह जोरि अर्ध करि, को बरजै हम खात ।'

में नखत = २७ + वेद = ४ + ग्रह = ९ = ४० का अर्ध = २० हुआ। पूरे पद का अर्थ 'विष' हुआ। इस प्रकार के प्रयोग क्लिष्टत्व-दोष उत्पन्न करते हैं।

निहितार्थ दोष :—जब शब्द का प्रयोग उसके प्रचलित अर्थ में न होकर अप्रचलित अर्थ में होता है तो निहितार्थ दोष होता है:—

'विषमय यह गोदावरी, अमृतन को फल देति ।'

में 'विष' का अप्रचलित अर्थ 'जल' यहाँ लिया गया है।

अप्रयुक्त दोष :—जब काव्य में न प्रयुक्त होने वाला वह शब्द जो 'कोश' में मान्य हो, प्रयोग में लाया जावे तो 'अप्रयुक्त' दोष होता है:-

'नक्त अँधेरी चली मिलन को, वह मुग्धा त्यज मान ।'

में प्रयुक्त 'नक्त' रात के अर्थ में प्रयुक्त है। कोश में 'नक्त' का अर्थ रात मान्य है, पर कविता में उसका प्रयोग न होने के कारण यहाँ यह प्रयोग अप्रयुक्त दोष की सृष्टि करता है।

२—वाक्य-दोष

प्रतिकूलवर्ण दोष :—वर्णित रस के अनुकूल वर्णों का प्रयोग न करके जब प्रतिकूल वर्णों का प्रयोग किया जाता है तब 'प्रतिकूलवर्ण दोष' होता है। केशव ने लक्ष्मण के द्वारा 'पञ्चवटी का वर्णन' कराने में इसी प्रकार के दोष का परिचय दिया है। पञ्चवटी की सुरम्य शोभा के वर्णन में प्रतिकूल वर्ण 'ट' का प्रयोग देखिये:—

'सब जाति फटी दुख की दुपटी, कपटी न रहै जहँ एक घटी।
निघटी रुचि मीचु घटीहू घटी, जग जीव-जतीन की छूटी तटी ॥
अघ-ओघ की बेड़ी कटी बिकटी, निकटी प्रकटी गुरु ज्ञान-गटी।
चहुँ ओरनि नाचति मुक्ति-नटी, गुन-धूरजटी बन-पंचवटी ॥'

हतवृत्तत्व दोष:—रसके अनुकूल छन्द का व्यवहार न करने पर विपरीत छन्द का व्यवहार यदि किया जावे तो हतवृत्तत्व दोष होता है। जैसे—करुण रस के अनुकूल 'मन्दाक्रान्ता' छन्द का प्रयोग न करके यदि करुण-रस के कथन में वीर-रस का 'शिखरिणी छन्द' प्रयुक्त हो तो हतवृत्तत्व दोष होगा।

न्यून-पदत्व दोष:—जितने पद की आवश्यकता हो, उससे कम पद का प्रयोग न्यून-पदत्व दोष उत्पन्न करता है। इससे वाक्य की प्रतीति बाधित होती है:—

'राजै लोन सुनावा लाग दुहुन्ह जस लोन।
आए कोहाइ मँदिर कहँ, सिंघ छान अब गौन॥'

में 'सिंघ' के पूर्व 'समुझि' होने पर पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति होती। इसके न रहने पर अर्थ की प्रतीति में बाधा होती है।

अधिक-पदत्व दोष:—आवश्यक पदों से अधिक पदों का प्रयोग 'अधिक-पदत्व दोष' उत्पन्न करता है। ऐसे शब्दों के प्रयोग जिनकी वाच्यार्थ में आवश्यकता न हो, इस दोष की उत्पत्ति करते हैं:—

'कीरति-हंसिनि कौमुदी-लौं फैली तुव राज।
डसै, तिहारे शत्रु को, खड्गलता-अहिराज॥'

में 'हंसिनी' और 'लता' शब्द व्यर्थ ही प्रयुक्त हुआ है। इस व्यर्थ के अधिक प्रयोग के कारण 'अधिक-पदत्व दोष' माना जावेगा। देखिये पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'काव्यांग-कौमुदी—तृतीय कला'।

३—अर्थ-दोष

दुष्क्रमत्व दोष:—वर्ण्य विषय का जो क्रम, लोक और शास्त्र में मान्य हो उसे बदल कर जब गलत क्रम का निर्धारण होता है, तब दुष्क्रमत्व-दोष कहलाता है:—

'मारुत नन्दन मारुत को मन को खगराज को वेग लजायौ।'
में क्रम—मारुत, खग और मन का होना चाहिये था। मन सबसे वेगवान है, उसके बाद खगराज को रखना दुष्क्रमत्व-दोष का परिचायक है।

पुनरुक्ति-दोष:—जब पद में व्यक्त अर्थ ही, फिर से व्यक्त किया जावे तो 'पुनरुक्ति-दोष' होता है। काव्यांग-कौमुदी की 'तृतीय कला' से उद्धृत यह उदाहरण देखिये:—

'क्वणित मंजु-विषाण हुए कई, रणित शृङ्ग हुए बहु साथ ही।'
में प्रथम पद का ही अर्थ दूसरे पद में भी व्यञ्जित हुआ है। अर्थ में कोई भेद नहीं है। प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'विषाण' और द्वितीय पंक्ति में प्रयुक्त 'शृङ्ग' दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं इसलिये पुनरुक्ति-दोष है।

८. कविता के भेद १

कविता के भेद :—बन्ध के आधार पर भारतीय दृष्टि से कविता के दो रूप माने गये हैं—(१) प्रबन्ध (२) मुक्तक। प्रबन्ध और मुक्तक का भेद गद्य में भी मान्य है। गद्य में प्रबन्ध के अन्तर्गत उपन्यास को मान्यता मिली है। प्रबन्ध और मुक्तक को रीतिकार वामन ने 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' की संज्ञा दी है। उन्होंने 'निबद्ध' या प्रबन्ध को महत्त्व दिया है और 'अनिबद्ध' या मुक्तक को साधन माना है। अपने इस भाव को स्पष्ट करने में ही प्रकारान्तर से उन्होंने उन दोनों का भेद भी स्पष्ट कर दिया है:—[1]

'अनिबद्धसिद्धौ निबद्धसिद्धिः। यथा स्रजि मालायां सिद्धायाम्।
उत्तंसः शेखरः सिद्धयतीति।

अर्थात् मुक्तक में सफलता प्राप्त कर प्रबन्ध की सफलता प्राप्त की जाती है जैसे माला गूथना आ जाने पर ही मुकुट-रचना सम्भव है।

प्रबन्ध और मुक्तक का सामान्य भेद यदि निरूपित किया जावे तो प्रबन्ध में आद्यन्त एक तारतम्य रहता है और सभी पद एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं, बाद में आने वाला पद पूर्व-कथित पद की आकांक्षा रखता है। इसके विपरीत मुक्तक किसी पद की अपेक्षा नहीं रखता। वह अपने में स्वतन्त्र होता है। प्रबन्ध में पदों का क्रम पलटा नहीं जा सकता किन्तु मुक्तकों के संग्रह में क्रम बदल भी दिया जावे तो अन्तर नहीं पड़ता। प्रबन्ध और मुक्तक का अन्तर बतलाते हुए श्री रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है:—'मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-प्रसङ्ग की परिस्थिति में अपने को भूला

१. काव्यालंकार—॥ २८ ॥

हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।"[1]

पाश्चात्य दृष्टि से कविता का विभाजन, बन्ध के आधार पर न होकर, विषय और विषयी के आधार पर हुआ है। उन्होंने विषयीप्रधान के लिये (Subjective) शब्द का और विषयप्रधान के लिये (Objective) शब्द का व्यवहार किया है। जिन काव्यों में विषय को महत्व मिलता है उन्हें विषयप्रधान कहा जाता है। जैसे—महाकाव्य, चरितकाव्य आदि। जिन काव्यों में कवि की अपनी अनुभूति, अपना दुःख-सुख व्यक्त होता है वे विषयीप्रधान होते हैं। यथा :—प्रगीत, गीत आदि। यदि इस विभाजन को भारतीय दृष्टि से देखा जावे तो प्रबन्ध 'विषयप्रधान' होगा और मुक्तक 'विषयीप्रधान'।

प्रबन्ध काव्य का भी दो भेद किया गया है—(१) महाकाव्य (२) खण्डकाव्य। महाकाव्य और खण्डकाव्य कला-पक्ष की दृष्टि से लगभग एक से ही हैं किन्तु विषय की दृष्टि से दोनों में भेद हैं। महाकाव्य में पूरे जीवन की कहानी कही जाती है और खण्डकाव्य में जीवन के किसी विशेष अवसर की अर्थात् खण्ड-जीवन की। प्राचीन काव्यशास्त्र के विभिन्न आचार्यों ने महाकाव्य का लक्षण दिया है। भामह ने महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है:—[2]

महाकाव्य का भारतीय लक्षण

'सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यञ्च सालङ्कार सदाश्रयम्॥

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास। पृष्ठ २७५

२. भामह—'काव्यालंकार' प्रथम परिच्छेद १९ से २३।

मन्त्रदूतप्रयाणादिनायकाभ्युदयैश्च यत् ।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धितम् ।।
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।।
नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः ।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया ।।
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते ।
न चाभ्युदयभाक् तस्य मुधादौ ग्रहणस्तवौ ।।

अर्थात् सर्गबद्ध महाकाव्य कहलाता है क्योंकि एक ओर उसमें महापुरुषों का वर्णन होता है और दूसरी ओर वह स्वयं महत् है। महाकाव्य में ग्राम्य शब्द न प्रयुक्त होने चाहियें, अलंकार और गुण अपने उत्तम रूप में प्रयुक्त होने चाहियें। उसमें पाँच सन्धियों—मन्त्रसन्धि, दूत-सन्धि, प्रयाणसन्धि, युद्धसन्धि तथा नायक के अभ्युदय की सन्धि—का कथन होना चाहिये। उसमें लम्बे और कठिन प्रसंग न आने चाहियें। उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का कथन होना चाहिये पर 'अर्थ' अर्थात् लौकिक उत्कर्ष विशेष रूप से दिखाना चाहिये। उसमें यथास्थान विभिन्न रसों का कथन होना चाहिये। जिसे वंश, गुण आदि के रूप में नायक बनाया जावे, उसका प्रतिनायक के द्वारा वध न दिखाया जावे।

महाकाव्यों के लक्षणों की गणना करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है:—[1]

'सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।

१. साहित्यदर्पण : ३१५ से ३२४।

एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्ग नाम तु ।'

साहित्यदर्पणकार द्वारा दिये गये इस लक्षण की व्याख्या श्री शालिग्राम शास्त्री के शब्दों में इस प्रकार है—'जिसमें सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्त आदि गुण हों—नायक होता है। कहीं एक वंश के सत्कुलीन भूप भी नायक होते हैं। शृङ्गार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अङ्गी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाटक-सन्धियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जनसम्बन्धिनी होती है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है। इसमें न बहुत छोटे न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं। उनमें प्रत्येक में एक ही छन्द होता है, किन्तु अन्तिम पद्य (सर्ग का) भिन्न छन्द का होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिये। इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया (शिकार), पर्वत, ऋतु (छहो), वन, समुद्र, संभोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासम्भव सांगोपाङ्ग वर्णन होना चाहिये। इसका नाम कवि के नाम से जैसे माघ, चरित्र के नाम से जैसे कुमारसम्भव, और चरित्र-नायक के नाम से जैसे रघुवंश होना चाहिये। कहीं-कहीं इनके अतिरिक्त भी नाम होता है। सर्ग की वर्णनीय कथा के आधार पर भी सर्ग का नाम रक्खा जाता है। सन्धियों के अङ्ग यहाँ यथासम्भव रखने चाहियें। यहाँ बहुवचन की विवक्षा नहीं है—यदि एक या दो भिन्न वृत्त हों तो भी कोई हर्ज नहीं। जलक्रीडा, मधुपानादिक सांगोपांग होने चाहियें। महाकाव्य का उदाहरण है—रघुवंश।'

महाकाव्य के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार द्वारा गिनाये गये लक्षण ही आज मान्य हैं। अतः भारतीय मत इन्हीं लक्षणों को मान्यता देता है।

महाकाव्य का पाश्चात्य लक्षण :—अंग्रेजी में महाकाव्य को Epic कहते हैं। अतः Epic की परिभाषा देखने पर हम महाकाव्य के पाश्चात्य लक्षणों को समझ सकेंगे। Epic की परिभाषा सम्यक् रूप से नहीं मिलती, किन्तु उसके सम्बन्ध में Everyman's Encyclopaedia में कहा गया है :—[1]

---

१. Everyman's Encyclopaedia—५ वाँ भाग।

'Epic Poetry—the name given to narrative or didactic poems of sufficient magnitude which are distinguished by beauty of thought and expression and whose subjects possess both dignity and interest. Epics have some times been classified allegorical etc., but these divisions often merge into one another. Some again have been styled epics of growth, having been built up of old legends and tradition, other epics of art, created mainly by the poet's imagination.' अर्थात् महाकाव्य की संज्ञा उन वर्णनात्मक एवं शिक्षात्मक कविताओं के लिये निर्धारित की गयी है जिनमें भावों की एक विशिष्ट उत्कृष्टता हो, जो भाव और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के कारण सुख्यात हों और जिनके विषय कौतूहलपूर्ण एवं गरिमामय हों। महाकाव्य को रूपात्मक आदि भेदों में बाँटा गया है किन्तु इस प्रकार के विभाजन एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं। कुछ लोगों ने महाकाव्य को Epic of Growth अर्थात् विकाससम्बन्धी या प्राकृतिक तथा Epic of Art अर्थात् कलात्मक आदि खण्डों में बाँटा है। प्राकृतिक महाकाव्य वह है जिसमें पुरानी कथाओं एवं परम्पराओं का आकलन होता है। कलात्मक महाकाव्य में विशुद्धतः कवि की कल्पना का विलास होता है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार महाकाव्य के दो भेद किये गये हैं। भारतीय पद्धति के अनुसार इस प्रकार का कोई भेद नहीं किया गया है। यदि भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टिकोणों पर विचार कर लेने के बाद हम महाकाव्य के लक्षणों की गणना करें तो वे इस प्रकार होंगे:—

१—विषय महत्वपूर्ण होना चाहिये ।

२—नायक शालीन एवं महान हो ।

३—नायक में धीरोदात्त गुण हों पर वास्तविकता के लिये उसके दोष भी कहे जावें ।

४—एक देश की संस्कृति और एक जाति की संस्कृति का कथन हो ।

५—दैनिक घटनाओं का कथन भी संभव है ।

भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों के समन्वय पर महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है :—

'महत्वपूर्ण विषय से युक्त शालीन एवं महान व्यक्तित्व वाले नायक से पूर्ण, किसी देश या जाति की संस्कृति का कथन करने वाले बृहद् इतिवृत्तात्मक काव्य को महाकाव्य कहते हैं ।'

संस्कृत और पाश्चात्य महाकाव्य

संस्कृत के महाकाव्यों में वाल्मीकीय रामायण, रघुवंश, कुमार-संभव, शिशुपालवध, किरातार्जुनीय, नैषध-चरित आदि महत्वपूर्ण हैं । इनमें अन्तिम तीन तो महाकाव्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं । इन महाकाव्यों में यदि स्वाभाविकता और कल्पना की परीक्षा की जावे तो रामायण को Epic of Growth की कोटि में तथा शिशुपाल-वध व किरातार्जुनीय को Epic of Art की कोटि में रक्खा जा सकता है ।

पाश्चात्य महाकाव्यों में होमर (Homer) का 'इलियद' (Illiad) और ओदेसि; (Odyssey) मिल्टन (Milton) का 'पैराडाइज लास्ट' (Paradise Lost) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं । 'इलियद' और 'ओदेसी' की कथा पौराणिक (Old Legend) है अतः उन्हें 'Epic of Growth' की कोटि में स्थान मिलता है, किन्तु 'पैराडाइज–लास्ट' में ईश्वर के विरुद्ध शैतान का विरोध दिखलाना

Milton की कल्पना का फल है, अतः इसे Epic of Art की कोटि में रक्खा जाता है।

हिन्दी-साहित्य में महाकाव्य की परम्परा देखने के लिये हमें हिन्दी-साहित्य के इतिहास की ओर मुड़ना पड़ता है।

महाकाव्य और हिन्दी-साहित्य

हिन्दी-साहित्य के इतिहास को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चार भागों में बाँटा है—(१) वीरगाथा-काल (२) भक्ति-काल (३) रीति-काल (४) आधुनिक काल।

वीरगाथा-काल :—इस काल की प्राप्त पुस्तकों में 'खुमान रासो' की जो प्रति मिली है, वह खण्डित है। वीर-गाथा-परम्परा में लिखी गयी सबसे व्यवस्थित पुस्तक है 'बीसलदेव रासो'। इसमें सांभर-नरेश विग्रहराज उपनाम बीसलदेव का यशगान मुक्तक छन्दों में किया गया है और इन मुक्तक पदों में क्रम स्थापित कर प्रबन्धात्मकता लाने का प्रयत्न हुआ है। इस युग में चन्द्रवरदाई कृत पृथ्वीराज रासो भी लिखा गया। महाकाव्यों की परम्परा में यह हिन्दी का पहला महाकाव्य है। पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त जगनिक ने 'आल्हा' की रचना की। इसमें आल्हा-ऊदल का कथन है, किन्तु इसका भी महाकाव्यत्व नहीं सिद्ध हो सका। अतः वीर-गाथा काल में हिन्दी का आदि महाकाव्य चन्द्रवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' देखने को मिला।

पृथ्वीराज रासो :—इस कृति में कृतिकार चन्द्रवरदाई ने ६९ सर्गों (समयों) में चौहान-वंश की उत्पत्ति से लेकर पृथ्वीराज के बन्दी बनाये जाने तक की कथा का कथन किया है। इस कृति की मुख्य घटनाएँ हैं:-जयचन्द से पृथ्वीराज का बैर, संयोगिता-स्वयंबर और हरण, शाहबुद्दीन का आक्रमण, बन्दी रूप में पृथ्वीराज का ग़ज़नी जाना और शब्दवेधी बाण द्वारा शाह को मार कर चन्द के साथ स्वयं मृत्यु को प्राप्त करना। कथा की दृष्टि से इस महाकाव्य में उदात्तचरित्र पृथ्वीराज को

नायक मानकर उसके जीवन का कथन किया गया है और उसके शौर्य का प्रदर्शन होने के कारण इस काव्य में वीर-रस अंगी हो गया है। इस कृति के उत्तरार्द्ध का कुछ सर्ग कृतिकार के पुत्र 'जल्हन' द्वारा लिखा गया है।

इस कृति में कृतिकार ने अपने युग की समस्त वृत्तियों का आकलन किया है। कवि-प्रचलित नख-शिख-निरूपण की प्रवृत्ति देखिये:—

'कुट्टिल केस सुदेश पौर परचियत पिक्क सद।
कमल गन्ध वय-संध हंस गति चलत मन्द-मन्द ॥'

इस कृति में संयोगिता के प्रसंग से शृङ्गार का, और युद्धों के प्रसंग से वीर रस का कथन हुआ है।

पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज-जैसे ऐतिहासिक व्यक्ति का चरित्र अंकित किया गया है, अतः कथानक में ऐतिहासिकता है, किन्तु कवि ने उसमें अपनी कल्पना को भी संयुक्त किया है। भक्ति, मुक्ति आदि का तथा देवताओं का कथन कर कवि ने अपनी संस्कृति का परिचय दिया है। इस कृति में चौहान-वंश का कथन होने से महाकाव्य के लिये अपेक्षित जातीय संस्कृति का भी परिचय मिल जाता है। इस कृति में उस समय की भाषा और छन्दों का भी रूप पूर्णतः देखने को मिलता है।

भक्तिकाल के महाकाव्य:—आचार्य शुक्ल ने भक्तिकाल को निर्गुण तथा सगुण धाराओं में विभक्त किया है। निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी शाखा में कोई महाकाव्य नहीं रचा गया। इस धारा की प्रेमाश्रयी शाखा में मसनवी पद्धति पर लिखा गया जायसी कृत 'पद्मावत' महाकाव्य की कोटि में रक्खा जा सकता है। सगुण धारा में भी राम-भक्ति शाखा और कृष्ण-भक्ति शाखा जैसी दो शाखायें मानी गयी हैं। कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों ने मुक्तक पदों का गान किया, इसलिये इस शाखा में कोई महाकाव्य प्राप्त न हो सका। राम-भक्ति शाखा में तुलसीकृत

'रामायण' को महाकाव्य की संज्ञा मिली। कुछ लोग केशव कृत 'राम-चन्द्रिका' को भी महाकाव्य मानते हैं किन्तु रामचन्द्रिका में काव्यत्व की अपेक्षा पांडित्य अधिक है। उसमें मुक्तक की-सी बिखरी हुई स्थिति दिखायी पड़ती है। इन्हीं कारणों से केशव की राम-चन्द्रिका में प्रबन्ध-योजना होने पर भी, उसे महाकाव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। निश्चित ही इस काल के दो ही महाकाव्य मान्य हैं:—
(१) पद्मावत और (२) रामचरित-मानस।

पद्मावत:—जायसी ने लौकिक कथा—पद्मिनी, रत्नसेन और अला-उद्दीन की कथा—का वर्णन पद्मावत में किया है। रूपक के माध्यम से उन्होंने इस कथा को आध्यात्मिकता प्रदान की है। 'तन चितउर, मन राजा कीन्हा' जैसी पंक्तियों से उन्होंने अपने रूपक को स्पष्ट किया है। मसनवी पद्धति पर लिखी गयी उनकी इस कृति में समासोक्ति का आधार लेकर एक ओर तो लौकिक कथा का प्रबन्ध शैली में कथन हुआ है और दूसरी ओर उससे भावनात्मक रहस्यवाद तथा सूफी साधना की सिद्धि हुई है। उनके इस कृति में अवधी भाषा का प्रयोग है और मसनवी पद्धति पर लिखने के कारण उन्होंने इसमें शाहे-वक्त 'शेरशाह' की वंदना की है। इस कृति का कथानक मूलतः ऐतिहासिक है, किन्तु कवि ने उसमें अपनी कल्पना का भी योग स्थापित किया है। इस कृति में सर्गों के स्थान पर प्रसंगों की योजना है और इसमें कुल ५८ प्रसंग रक्खे गये हैं। शैली की दृष्टि से कवि ने ७ अर्धाली के बाद एक दोहा का क्रम रक्खा है। इसमें हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के समन्वय का अद्भुत प्रयास है। महाकाव्य के बीच रूपक-काव्य की दृष्टि से इस कृति का सर्वोच्च स्थान है।

रामचरित-मानस:—मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के चरित्र पर लिखा गया तुलसीदास कृत 'रामचरित-मानस' हिन्दी का सर्वोत्कृष्ट चरित-काव्य

या चरित-सम्बन्धी महाकाव्य है। दुष्टता के प्रतीक रावण का नाश करने के लिये सद् के प्रतीक राम की अवतारणा की गयी है। तुलसी-दास जी ने राम की जीवन-गाथा कहकर लोगों के निराश भाव का शमन किया है। राम के जन्म से लेकर राम के राज्याभिषेक के बाद अम-राई में जाने तक की कथा इस मानस में सँजोयी गयी है। मानस में आदर्श और भावना का ऐसा समन्वय है कि यह आज भी हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट कृति के रूप में मान्य है। इसमें आर्य संस्कृति और मानव धर्म का कथन हुआ है। समाज के विभिन्न नियमों का प्रभाव मानव-मस्तिष्क पर स्थापित करने के लिये ही कवि ने मर्यादा-पुरुषोत्तम का जीवन, इतिवृत्त-रूप में चुना है। रस की दृष्टि से इसमें लगभग सभी रस हैं किन्तु अंगी रूप में शान्त, शृङ्गार और वीर रसों का कथन है। अपने युग की प्रचलित लगभग सभी शैलियों को इस ग्रन्थ में तुलसी-दास जी ने स्थान दिया है। अवधी भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ हमारे हिन्दी-साहित्य का सर्वस्व है।

रीतिकाल और महाकाव्य:—रीतिकाल में कवियों का ध्यान कलापक्ष की ओर अधिक था, भावपक्ष की ओर कम। भाव की दृष्टि से इस काल के कवि मुख्यतः शृङ्गार रस की कविता लिखा करते थे। इस काल के कवियों को कला की उपासना या रीति की स्वीकृति के आधार पर पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने तीन श्रेणियों में बाँटा है—रीतिबद्ध, रीतिमुक्त और रीतिसिद्ध। कला की ओर युग का आग्रह होने के कारण इस युग में महाकाव्य लिखने की ओर कोई भी अग्रसर नहीं हुआ। अतः यह काल, महाकाव्य की दृष्टि से रिक्त है।

आधुनिक काल और महाकाव्य:—आधुनिक काल का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन से माना जाता है। भारतेन्दु-युग में नाटक की प्रवृत्ति अधिक थी, अतः उस युग में कोई प्रबन्धकाव्य नहीं

मिलता। द्विवेदी-युग के आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर श्री हरिऔध ने कृष्ण को आदर्श मानकर प्रिय-प्रवास की रचना की, तथा गुप्तजी ने राम को आदर्श मानकर साकेत की रचना की। प्रिय-प्रवास में 'कृष्ण' और 'राधा' का विशेष प्रभाव है और साकेत की 'उर्मिला' देवी का चरित्र आदर्श की दृष्टि से अनूठा है। वर्तमान युग में इन दो महाकाव्यों के अतिरिक्त कामायनी, कृष्णायन, साकेत-संत, कुरुक्षेत्र आदि को महाकाव्य माना जाता है। इस युग के उदात्त चरित्र 'बापू' पर लिखा गया श्री ठाकुरप्रसादसिंह 'अग्रदूत' कृत 'महामानव' भी महाकाव्य की कोटि में स्थान पा सकता है। 'प्रिय-प्रवास' 'साकेत' और 'कामायनी' को पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'एकार्थ काव्य' के अन्तर्गत स्थान दिया है और कहा है कि एकार्थ काव्य में महाकाव्य की अपेक्षा कथा में मोड़ कम होता है। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने एकार्थ काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है[1]—'एकार्थ काव्य वे होते हैं जिनमें न तो महाकाव्य की पञ्चसंधियों का विधान होता है, न उनका विस्तार ही होता है, वरन् इनमें कथा का कोई उद्दिष्ट पक्ष होता है। इसमें कथा-प्रवाह भी बहुत जटिल नहीं होता और कवि की वृत्ति वर्णन करने या भाव-व्यंजना करने पर ही लगी रहती है।' एकार्थ काव्य की इस परिभाषा के आधार पर कुछ लोग ऊपर लिखे काव्यों को एकार्थ काव्य मानते हैं। किन्तु एकार्थ काव्य का उदाहरण है—रत्नाकर कृत 'गंगावतरण'।

प्रियप्रवास :—द्विवेदी-युग में खड़ी बोली की कवितायें देखने को मिलती हैं। इस युग में प्रबन्धात्मक शैली में हरिऔध जी कृत 'प्रिय-प्रवास' लिखा गया। 'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण और राधा के विरह

१. साहित्य-सर्वस्व (पृ० ७१४)

की कथा कही गयी है। कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों की तरह प्रिय-प्रवास के कवि ने केवल विरह का ही कथन नहीं किया है। उसने राधा-कृष्ण को लोक-सेवक रूप में प्रस्तुत किया है। प्रियप्रवास में कृष्ण स्वयं नहीं आये हैं, उनका परिचय गोप और गोपिकाओं के द्वारा प्राप्त हुआ है, इसीलिये प्रिय-प्रवास को महाकाव्य न मानकर एकार्थ काव्य ही कहा जाता है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रियप्रवास पर विचार करते हुए कहा है[१]—'प्रिय-प्रवास में 'राधा' के जीवन का एक ही पक्ष और वह भी किसी महत्वपूर्ण घटना से रहित, अंकित किया जा सका है।' इस प्रकार प्रिय-प्रवास में सम्पूर्ण जीवन का चित्र न होकर खण्ड-जीवन का एकपक्षीय कथन हुआ है, अतः उसे पूर्णतः महाकाव्य नहीं माना जा सकता। उसके महाकाव्यत्व पर सन्देह है। सर्ग की दृष्टि से, विषय-गाम्भीर्य की दृष्टि से, तथा भारतीय संस्कृति के कथन की दृष्टि से प्रियप्रवास में महाकाव्यत्व निहित दिखाई पड़ता है। जीवन के एक-पक्षीय दृष्टिकोण और कृष्ण की अनुपस्थिति के कारण उसका महाकाव्यत्व खण्डित है।

साकेत :—रामकाव्यधारा में गुप्तजी की लिखी हुई पुस्तक 'साकेत' का विशेष महत्व है। 'साकेत' की कथा का आरम्भ साकेतपुरी के परिचय तथा उर्मिलादेवी के परिचय से होता है। राम के राज्याभिषेक की तैय्यारी, फिर मन्थरा के परामर्श से कैकेयी की वर-याचना, राम की वनयात्रा, चित्रकूट की सभा, उर्मिला की विरह-कहानी और राम का प्रत्यावर्तन तथा उर्मिला और लक्ष्मण का मिलन दिखाकर इस काव्य का उपसंहार किया गया है। सर्ग की दृष्टि से इसमें बारह सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग में छन्द-परिवर्तन का क्रम रक्खा गया है। एक

१. आधुनिक-साहित्य (पृ० ३६)

सर्ग का अन्तिम भाव, आने वाले सर्ग की सूचना देता है। आरम्भ में मंगलाचरण भी है। एक भारतीय-संस्कृति का कथन भी इस काव्य में हुआ है। कथा में ऐतिहासिकता भी है और कल्पनाजन्य आधुनिकता भी। उर्मिलादेवी इस कृति के मुख्य-चरित्र के रूप में दृष्टिगत होती हैं, पर राम का चरित्र इससे धूमिल नहीं होने पाया है। इन सब तत्त्वों की पुष्टि के कारण 'साकेत' महाकाव्य का पद प्राप्त करता है। किन्तु प्रबन्धात्मकता के आधार पर विचार करने पर इसमें कुछ दोष दिखायी पड़ते हैं। इस काव्य के प्रथम आठ सर्ग में बहुत थोड़ी-सी घटनाओं का विस्तार दिखाया गया है। इन सर्गों में केवल राज्याभिषेक की तैय्यारी, कैकेयी की वर-याचना, वनवास की आज्ञा, प्रस्थान आदि ही दिखाया गया है। ये सारी घटनायें बहुत थोड़े समय में घटित हुई हैं। राम के जीवन का १४ वर्ष अन्तिम ४ सर्गों में ही वर्णित है। प्रबन्ध की दृष्टि से इसे दोष ही माना जा सकता है। अन्तिम ४ सर्ग में भी उर्मिला का विलाप, पूर्व-स्थिति का उर्मिला द्वारा स्मरण आदि ही अधिक स्थान घेरता है। प्रबन्ध की इस त्रुटि के कारण तथा उर्मिला के एकांगी विरह के कारण कुछ विद्वानों ने इसे महाकाव्य न मानकर एकार्थ-काव्य माना है। इन दोनों ही तर्कों पर विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध की दृष्टि से कुछ त्रुटि होने पर भी विषय की व्यापकता और उसके गौरव के कारण यह एक महाकाव्य है।

कामायनी:—रूपक-शैली पर लिखा गया यह काव्य भावकाव्य है। इसमें मन की विभिन्न प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक कथन हुआ है। कामायनी का वस्तु-चित्रण इसीलिये मानसिक-वृत्तियों की अभिव्यंजना के रूप में अधिक माना गया है। इसमें प्राकृतिक सौन्दर्य का कथन है। महाकाव्योचित युद्ध भी इसमें नहीं मिलते किन्तु अंतर्द्वन्द्व की तीव्रता इस कमी को पूर्ण करती दीखती है। इस कृति में विभिन्न

दार्शनिक मतों का कथन हुआ है, यथा—नियतिवाद, समरसता, आनन्दवाद आदि। कामायनी में व्यक्त वस्तुओं का वैविध्य नहीं, अव्यक्त वस्तुओं का वैविध्य है। अतः इसे सामान्यतः लोग महाकाव्य नहीं मानते। कुछ लोगों ने इसके नायक 'मनु' को ही महाकाव्य के नायक के गुणों से खण्डित माना है। सचमुच अस्थिर बुद्धि वाला 'मनु' भारतीय दृष्टि से नायकोचित गुणों पर खरा नहीं उतरता। किन्तु पाश्चात्य दृष्टि से नायक में दोष भी मान्य हैं। नायक और वस्तु की दृष्टि से 'कामायनी' का महाकाव्यत्व संदिग्ध है पर भाव की दृष्टि से वह सिद्ध है।

कुरुक्षेत्र, कृष्णायन और साकेत-संत :—'कुरुक्षेत्र' कथानक की दृष्टि से दुर्बल काव्य है। श्री 'दिनकर' ने इसमें इतिवृत्त और चरित्र-चित्रण को महत्व न देकर केवल युद्ध की विभिन्न स्थितियों के कथन को महत्व दिया है। ऐसी स्थिति में 'कुरुक्षेत्र' को महाकाव्य मानना ठीक नहीं।

'कृष्णायन' में श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र ने अब तक की कृष्ण-काव्य-सम्बन्धी सामग्री को स्वाभाविक प्रवाह दिया है। एक सहस्र पृष्ठ की यह पुस्तक सामयिक भी है और कृष्ण-सम्बन्धी गाथा की स्वाभाविकता से पूर्ण भी। इस महाकाव्य के नायक हैं—कृष्ण। उन्हीं को केन्द्र मानकर सारी घटनायें घटित हुई हैं। इसकी भाषा संस्कृत-गर्भित अवधी है और शैली दोहा-चौपाई की। इससे एक सांस्कृतिक संदेश भी प्राप्त होता है। इसके प्रथम काण्ड में बाल-लीला, द्वितीय काण्ड में कंस-वध, तृतीय काण्ड में विपक्षियों का संहार, चतुर्थ काण्ड में राजसूय-यज्ञ का कथन है। पञ्चम काण्ड—गीता काण्ड है। जय काण्ड में 'महाभारत-युद्ध' का वर्णन हुआ है। इसमें युद्धनीति

का भी सुन्दर वर्णन है। अन्तिम काण्ड है—आरोहण काण्ड। इस काण्ड में विभिन्न शिक्षाओं—भीष्म द्वारा दी गयी शिक्षा, कृष्ण द्वारा मैत्रेय को दी गयी शिक्षा—का कथन है। इस प्रकार इस काव्य में भारतीय जीवन व दर्शन का कथन है। इसमें प्रकृति के विभिन्न रूपों का भी वर्णन है। भारतीय समीक्षा की दृष्टि से निश्चित ही प्राचीन परिपाटी पर लिखा गया यह काव्य, एक महाकाव्य है।

साकेत-संत में पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'भरत' के चरित्र को विशेष महत्व दिया है। इस महाकाव्य में कुल ६४ सर्ग हैं। नायक भरत में नायकोचित गुण पूर्णतः दिखायी पड़ते हैं। इसमें आधुनिक विचारों का कथन हुआ है। इस महाकाव्य पर गाँधीवाद का प्रभाव है। अहिंसा और करुणा के सम्बन्ध में यह विचार देखिये :—'करुणा का बल अनुचित है, क्षत्रियता जिस पर वारी।' नवीन छन्द से सर्गों का आरम्भ किया गया है। प्रकृति-वर्णन आदि का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है।

स्फुट महाकाव्य :—आधुनिक युग में कुछ महाकाव्य ऐसे भी हैं जिनको महाकाव्य की संज्ञा तो मिली है, पर उनका महाकाव्यत्व संदिग्ध है। इस प्रकार के महाकाव्य हैं—श्री अनूपशर्मा कृत 'सिद्धार्थ', श्री श्यामनारायण पांडे कृत 'हल्दीघाटी', श्री गुरुभक्तसिंह कृत 'नूरजहाँ', श्री हरदयालुसिंह कृत 'रावण-महाकाव्य', श्री राधेश्याम द्विवेदी कृत 'कल्याणी कैकेयी', श्री ठाकुरप्रसाद सिंह 'अग्रदूत' कृत 'महामानव' आदि।

'खण्ड-काव्य'

खण्डकाव्य, वह प्रबन्ध काव्य है जिसमें महाकाव्य के समान चरित-नायक के पूर्ण जीवन का कथन नहीं होता, बल्कि चरित-नायक

का खण्ड-जीवन ही वर्णित होता है। नायक के जीवन के बीच से कुछ भाग को चुनकर उसका पूर्ण रूप से कथन करना ही खण्ड-काव्य का विषय होता है। खण्ड-जीवन की विभिन्न स्थितियों का एक तारतम्य के साथ कथन करना 'खण्ड-काव्य' की विशेषता है। साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने खण्ड-काव्य के सम्बन्ध में कहा है—'खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च' अर्थात् खण्डकाव्य में एक देश-काल की घटना का अनुसरण होता है। इसमें नायक के खण्ड-जीवन का इतिवृत्त होता है, अतः इसे इतिवृत्तात्मक कविता के बीच ही स्थान मिलता है। अंग्रेजी में इस विधा के लिये अलग से नामकरण नहीं किया गया है। इसे 'Narrative poetry' के अन्तर्गत ही रक्खा गया है।

खण्डकाव्य हिन्दी में महाकाव्य की अपेक्षा अधिक मात्रा में रचे गये है। संस्कृत के 'मेघदूत' को खण्डकाव्य कहा जा सकता है। तुलसीदासजी कृत 'जानकी-मंगल', 'पार्वती-मंगल', नन्ददास कृत 'रास-पंचाध्यायी' या 'भ्रमरगीत', नरोत्तमदास कृत 'सुदामा-चरित', गुप्तजी कृत 'जयद्रथ-वध', 'नहुष' आदि, रत्नाकरजी कृत 'उद्धव-शतक', श्री रामनरेश त्रिपाठी कृत 'पथिक', श्री सोहनलाल द्विवेदी कृत 'कुणाल', श्री 'गिरीश' कृत 'प्रयाण', श्री 'रसाल' कृत 'भोजराज' आदि खण्डकाव्य की कोटि में ही स्थान पाते हैं। खण्डकाव्य आज भी लिखे जा रहे हैं और 'बापू' पर कई एक खण्डकाव्यों की रचना हुई है।

खण्डकाव्य में सर्ग होते हैं और सर्गों में छन्द-बन्धन भी होता है। इसमें प्रकृति-चित्रण, मंगलाचरण आदि का विधान भी होता है; किन्तु जीवन का पूरा चित्र नहीं होता। जीवन का पूर्ण चित्र न होने के कारण इसमें सन्धि-विधान भी शिथिल रूप में रहता है।

६. कविता के भेद २

महाकाव्य और खण्डकाव्य के सम्बन्ध में विचार करते समय यह कहा जा चुका है कि तारतम्यपूर्ण इतिवृत्त ही इन विधाओं का मूल है। मुक्तक में इस तारतम्य की आवश्यकता नहीं रहती। मुक्तक का अर्थ ही है—तारतम्यमुक्त भावपूर्ण कविता। मुक्तक के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार देखिये[१]—'मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबन्धकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खंड-दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मंत्र-मुग्ध-सा हो जाता है।' यह मुक्तक दो प्रकार का होता है—(१) नीतिविषयक (२) गेय। नीतिविषयक मुक्तक में संगीतात्मकता नहीं होती तथा उपदेश की वृत्ति रहती है। रहीम के दोहे, बाबा दीनदयाल की अन्योक्तियाँ इसी पद्धति की रचनायें हैं। कबीर, बिहारी आदि के दोहे भी 'गेय' नहीं है, अतः इसी कोटि में स्थान पाते हैं। किन्तु वे मुक्तक जिनमें संगीतध्वनि हो, जो गाये जा सकते हों 'गेय' कहलाते हैं।

मुक्तक

गेय मुक्तक भी संगीत ध्वनि की उत्कृष्टता और भावावेग की अति तीव्रता से समन्वित होने पर प्रगीत की संज्ञा पाते हैं। प्रगीत को

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास। पृ० २७५

अंग्रेजी में Lyric कहते हैं। Lyric का अर्थ है—मुक्तक कविता जो Lyre अर्थात् वीणा पर गायी जा सके। Lyric की परिभाषा एस. आर. ड्राइवर ने इस प्रकार दी है[१] :—'Lyrical poetry among the ancients was so called because it was sung or recited to the accompaniment of music. Lyrical poetry may perhaps be best described as that class of poetry which expresses emotion directly, and in this sense includes the ode, the sonnet, the elegy, the psalm, the hymn, and the song. In Lyric poetry the poet gives vent to his personal emotions or experiences—his joy, sorrows, cares, complaints, aspirations, despair—or reproduces in words the impressions which nature or history has made upon him.'

(Everyman's Encyclopaedia Vol. 8)

अर्थात् 'प्राचीनकाल में प्रगीतात्मक कविता को इसलिये प्रगीतात्मक कहते थे कि वह 'गेय' होती थी अर्थात् संगीतात्मक पद्धति पर गायी जाती थी। प्रगीतात्मक कविता का सबसे सुन्दर परिचय यह कहकर दिया जा सकता है कि यह उस प्रकार की कविता है जो भावनाओं की सहज, सरल अभिव्यक्ति करती है और इस अर्थ में इसमें संबोधन गीत (Ode), चतुर्दशपदी (Sonnet), शोकगीत (Elegy), भजन (Psalm), स्तोत्रगीत (Hymn) और गान (Song)

---

१. Introduction to the literature of old Testament, 1891 (Quoted from Everyman's Encyclopaedia Vol. 8).

सभी आ जाते हैं। प्रगीतात्मक कविता में कवि अपनी व्यक्तिगत भावना या अनुभव—अपनी प्रसन्नता, पीड़ा, चिन्ता, उपालम्भ, उत्साह, निराशा—को व्यक्त करता है, या प्रकृति अथवा इतिहास द्वारा प्राप्त अपने विचारों को शब्द के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।'

(एवरीमैन इनसाइक्लोपीडिया, भाग ८)

गीतात्मक कविता के सम्बन्ध में 'वर्सफोल्ड' ने लिखा है:— 'Lyric Poetry......is poetry originally intended to be accompanied by the lyre or by some other instrument of music. The term has come to signify any out-burst in song which is composed under a strong impulse of emotion or inspiration.'[1] इस परिभाषा में भी प्रगीत के मुख्य दो तत्वों पर विचार किया गया है— (१) 'गेय' तत्त्व (वाद्य-यन्त्र के साथ गाया जा सके)। (२) भावावेग की तीव्रता। अतः भावावेग की तीव्रता से निकली हुई 'गेय' काव्य-ध्वनि 'प्रगीत' है।

श्री गुलाबराय जी ने प्रगीत और गीत के सम्बन्ध में विचार करते हुये महादेवी वर्मा का विचार व्यक्त किया है[2]:—'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्द-रूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।' सुश्री महादेवी वर्मा के इस विचार से भी 'प्रगीत' का वही परिचय मिलता है जो 'वर्सफोल्ड' या 'एवरीमैन्स इनसाइक्लोपीडिया' से उद्धृत विचारों से मिलता है। अतः प्रगीत का मूल-तत्त्व सभी विचारकों की दृष्टि में एक ही रहा है।

---

१. Judgement in Literature. पृ० ९७।

२. 'काव्य के रूप' पृ० १२१।

यदि इन सभी विचारों के आधार पर निष्कर्ष निकाला जावे तो प्रगती की परिभाषा इस प्रकार बनती दिखाई देगी:—'अन्तःकरण और भावावेग की प्रेरणा से निःसृत अनुभूति-मूलक, सस्वर, नादमय कविता को प्रगीत कहते हैं।'

प्रगीत का स्वरूप:—भावों की तीव्रता और नाद-सौन्दर्य के आधार पर प्रगीतों के अन्दर विभिन्न भेद उपस्थित हो उठे हैं। सवैया, मनहरण कवित्त आदि में भी 'नाद' है, अतः उन्हें भी प्रगीत मुक्तक की संज्ञा दी जा सकती है किन्तु इन पदों को वाद्य-यन्त्रों पर गा सकना कुछ कठिन होता है। इनकी अपेक्षा टेक-पूर्ण शैली में गीत के स्वर को पकड़ कर पद-बन्धन में कुछ शिथिलता लाकर जो पद गाये जाते हैं, उनमें संगीतात्मकता अधिक रहती है, इसलिये उन्हें विशुद्ध रूप में प्रगीत कहते हैं। नाद-पूर्ण वह कविता जो वाद्य-यन्त्रों पर गायी नहीं जाती कविता है, और नाद-पूर्ण वह कविता जिसे वाद्य-यन्त्रों पर गा सकते हैं पद या गीत है। गीत में इतिवृत्त की अपेक्षा अनुभूति की प्रधानता रहती है। किन्तु जब कोई इतिवृत्त ही किसी की अनुभूति हो उठता है तो वही प्रगीत का विषय हो जाता है। तुलसी, सूर आदि के इतिवृत्त-मूलक पद इसीलिये 'गेय' हैं और प्रगीत की कोटि में स्थान पाते हैं।

विषय की दृष्टि से 'प्रगीत' के कई भेद हैं। मुख्यतः हम इसे दो भागों में बाँट सकते हैं:—(१) लोक-गीत। (२) साहित्यिक गीत।

लोक-गीत का इतिहास बहुत पुराना है। जब से मानव ने जन्म लिया और माधुर्य का अनुभव करना आरम्भ किया तब से ही इस लोक-गीत का भी जन्म मानना चाहिये। इस लोक-गीत को श्री सच्चिदानन्द तिवारी ने तीन खण्डों में विभाजित किया है:—

(१) अवसरसम्बन्धी लोक-गीत । (२) जातिसम्बन्धी लोक-गाती । (३) ऋतुसम्बन्धी लोक-गीत ।

उन गीतों को साहित्यिक गीत कहा जाता है, जिनमें साहित्यिक मान्यताओं को स्वीकृति मिलती है । लौकिक गीतों से साहित्यिक गीत की ओर मुड़ने की प्रेरणा मिली है । हिन्दी में गीतों की परम्परा 'गीत-गोविन्द' के लेखक जयदेव से मानी जाती है । कृष्ण-भक्त कवियों ने इस परम्परा में कितने ही 'गीत' लिखे हैं । साहित्यिक गीतों में साहित्यिक मान्यताओं की स्वीकृति के कारण आज का कवि या गीत-कार कभी साहित्य में प्रचलित 'वादों' को पकड़ कर छायावादी गीत लिखता है, कभी रहस्यवादी और कभी प्रगतिवादी । कुछ गीतकारों ने अँग्रेजी पद्धति पर चतुर्दशपदी, शोक-गीत आदि की रचनायें भी की हैं ।
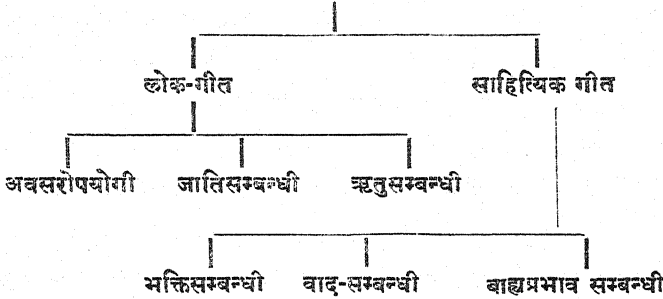
(१) लोक-गीत :—लोक-गीत को यदि जन-गीत कहा जावे तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । लोक-गीत प्रदेशों में गाये जाने वाले प्रादेशिक भाषा के गीत हैं । भोजपुर में भोजपुरी के लोक-गीत गाये जाते हैं, पंजाब में पंजाबी और सिन्ध में सिन्धी लोक गीतों की ध्वनि सुनायी पड़ती है । लोक-गीतों की परम्परा मुख्यतः स्मृति में ही रक्षित है, और समय समय पर कुल-वधुयें तथा कुछ कुल-पुरुष भी इसका

गान करते रहते हैं। इन स्मृति-गम्य लोक-गीतों का आलेखन अब आरम्भ हुआ है। आलेखन के कारण लोक-गीतों की सबल भावना से लोग परिचित हो रहे हैं। लोक-गीत का विषय-क्षेत्र परिमित नहीं होता। उसमें जीवन के किसी भी अंश का कथन हो सकता है। उसमें पौराणिक कथा कही जाती है, सामजिक चित्र उपस्थित किये जाते हैं और जीवन का स्वरूप निर्धारित किया जाता है। इन लोक-गीतों की ध्वनि से समय-समय पर साहित्यिक गीतकार भी प्रभावित होते रहे हैं। श्री सुमित्रानन्दन पंत जैसे आधुनिक कवियों पर भी इन लोक-गीतों का प्रभाव पड़ा है।

अवसरोपयोगी लोकगीत :—अवसरोपयोगी गीतों में वे सभी लोकगीत आ जाते हैं जो विभिन्न संस्कारों के समय गाये जाते हैं या खेती के विभिन्न अवसरों (बोने, काटने) पर गाये जाते हैं। संस्कार-संबन्धी गीत को सुश्री रामकिशोरी श्रीवास्तव ने ५ खण्डों में बाँटा है—(१) जन्म के गीत (सोहर) (२) अन्न-प्राशन के गीत (३) जनेऊ के गीत (४) नहछू के गीत (५) विवाह के गीत।

विवाह के समय भाँवर घूमने के सम्बन्ध की एक भावना देखिये :—

'पहिली भँवरिया के फिरत अबहीं त बाटी तोहार
सतईं भँवरिया के फिरत बाबा अब नाहीं बाटी तोहार।'

संस्कार-सम्बन्धी इन लोक-गीतों से प्रभावित होकर गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'रामलला नहछू' जैसे लोक-गीत पूर्ण काव्य की रचना की है। इस लोक-गीत सम्बन्धी पुस्तक में साहित्यिकता कूट कूट कर भरी पड़ी है।

अवसरोपयोगी गीतों में व्यापार और कृषि के गीत भी महत्त्वपूर्ण हैं। जाँता-गीत, कोल्हू के गीत, सोहनी के गीत आदि इसी प्रकार के लोक-गीत हैं। इन गीतों का उद्देश्य एक ओर तो मनोरंजन करना होता है और दूसरी ओर श्रम-परिहार करना।

जातीय गीत :—जातीय गीतों में विभिन्न जातियों से सम्बन्धित गीत गाये जाते हैं। तेली के गीत, धोबी के गीत, चमार के गीत आदि इसी प्रकार के गीत हैं। धोबी का एक लोकगीत देखिये :—

"आधी रात के काहे बोलै रे मुरुगवा,
पिया बिछुड़ल जाला मोर।
अस मन होला मुर्गा मुड़िया मरोरी,
सोड़े डेवढ़िया पर ठोर।।"

ऋतु-सम्बन्धी गीत :—लोक-गीतों में ऋतु का परिचय भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। वर्षा के बादल और पुरवाई को देखकर एक विरहिनी कह उठती है :—

"अरे अरे कारी बदरिया तुहीं मोरी बादरि।
बादरि जाइ बरसहु वहि देस जहाँ पिय छाए।।"

लोक-गीतों में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि विभिन्न अलंकार भी स्वतः ही आ जाते हैं। उनमें विभिन्न रसों की अद्भुत सृष्टि होती है। विरह, वात्सल्य और वीर रसों का उदाहरण देखिये :—

विरह :—हरिन के मारे जाने पर उसके खाल की बनी खंझड़ी की ध्वनि सुनकर हरिनी की मनःस्थिति का एक चित्र :—

'जब जब बाजइ खंझड़िया सबद सुन अनकइ।
हरिनी ठाढ़ि ढकुलिया के पास हरिन क बिसूरइ।।'

वात्सल्य :—पुत्र की ममता से माँ की अंगिया के बंद-बंद टूट जाते हैं और दूध पिलाने के लिये छाती हहरा उठती है :—

'अँगिया त फाटै बंदै बंद अँचरा करै का,
छतिया उठी हहराय ढूंढ़न हम आइन।'

वीर रस :—भाई को बहन जल्द ही खाकर उठने के लिये

कहती है, क्योंकि उसके भाई को अकेले ही 'सौ-साठ' मुगलों से लड़कर विजय लेनी है :—

'बिरना हाली हाली जेंवउ बिरन मोरा
बिरना मुगल लड़ैया क ठाढ़
बिरना मुगल की ओरियाँ सौ साठ जने
मोरा भइया अकेलवहिं ठाढ़
बिरना मुगल जुझैं सौ साठ जने
मोरा भइया समर जीति ठाढ़।'

लोक-गीतों में समाज की विभिन्न समस्याओं पर भी विचार हुआ है। समाज की बुराइयों का कहीं-कहीं स्पष्ट कथन हुआ है और कहीं-कहीं उन पर व्यंग किया गया है। समाज में प्रचलित अनमेल विवाह पर किया गया व्यंग देखिये :—

'पाँच बरिसवा क मोरी रंगरेली, असिया बरस क दमाद।
निकरि न आवइ तूँ मोरी रंगरेली अजगर ठाढ़ि दुआरि॥'

इस प्रकार लोक-गीतों का साहित्य भी विपुल मात्रा में प्राप्त हुआ है। यह साहित्य अब तक उपेक्षित था, किन्तु इसकी अतुल संपत्ति-राशि को देख कर अब लेखकों एवं विचारकों की निद्रा टूटी है और लोगों ने इस साहित्य को उत्कर्ष देने का प्रयत्न आरम्भ किया है। निश्चित ही लोक-गीतों का भविष्य मंगलमय है।

(२) साहित्यिक गीत :—साहित्यिक गीतों पर प्राचीन लोक-गीतों का प्रभाव रहा है। लोक की अनुभूति से अपनी अनुभूति को मिलाकर भारतीय कवियों ने अपने गीतों का गान किया है। साहित्यिक गीतों की परम्परा का आरम्भ 'गीत-गोविंद' के रचयिता 'जयदेव' से माना जाता है। जयदेव से प्रभावित होकर विद्यापति और चण्डीदास ने गीत की माधुरी से लोगों को मुग्ध कर लिया।

इन लोगों से प्रभावित होकर निर्गुणिये तथा सगुणोपासक कवियों ने गीतों में अपनी भक्ति-भावना का आकलन करना आरम्भ किया। कबीर ने पदों का गान किया। सूर के पद इसी गीत-शैली में गाये गये और तुलसीदास जी की विनय-पत्रिका, गीतावली आदि पुस्तकों में पदशैली का ही दर्शन हुआ। कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों में नन्ददास, मीरा आदि प्रमुख गीतकार कवि सुख्यात हैं। इस काल के गीतों की भाषा प्रमुखतः 'व्रज' थी।

भक्तिकाल के बाद रीतिकाल आता है। इस रीतिकाल में गीत-तत्व दब गया, कवित्व-तत्व पर विशेष आग्रह रहा। रीतिकाल में भौतिकता अधिक थी, आराध्य के प्रति श्रद्धा-भाव का लोप था। श्रद्धा-भाव के लोप के कारण इस काल के कवियों में गीतात्मक अनुभूति दब गयी। दर्बारों में गायन होता था, पर साहित्यिक गीत की ओर कवियों का ध्यान न था। 'कलाबाजी' इस काल के कवियों की मुख्य विशेषता थी और 'कला-बाजी' से 'गीत-तत्व' को ठेस लगती है। श्लेष-यमक के बलपूर्ण प्रयोग के कारण ही यह काल गीत-तत्व से वंचित रहा।

रीतिकाल के बाद आधुनिककाल आया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस काल को बल दिया और उनके प्रयत्न से कविता को रीतिकालीन संकुचित घेरे से मुक्ति मिली। भारतेन्दु-युग के बाद 'द्विवेदी-युग' आया। इस समय कविता की भाषा खड़ी बोली हुई और सुधार-सम्बन्धी तथा उपदेशात्मक कवितायें लिखी गयीं। इसमें भी अनुभूति-पक्ष दुर्बल था। अतः इसके विरोध में सूक्ष्म-अनुभूति-मूलक, मधुर-पदावली-समन्वित गेय पदों के स्थापक छायावाद को जन्म मिला। नाटक में प्रयुक्त भारतेन्दु के गीतों को देखकर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक काल के 'गीत' भारतेन्दु-युग से ही प्रचलित हो गये

थे। किन्तु इन गीतों में साहित्यिकता अपने उत्कृष्ट रूप में नहीं दिखायी पड़ती। इसीलिये इस आधुनिक काल में गीतों का आरम्भ, छायावादी कवियों के गीतों से मानना ठीक होगा।

छायावादी गीतकार :—छायावाद-युग की विशेषता है—रस-तत्व की स्वीकृति और विषय-वस्तु के प्रति भावना की तन्मयता। छायावाद में 'मैंने मैं शैली अपनाई' और भावना, कल्पना, चित्रात्मकता, मूर्त विधान आदि तत्वों का समन्वय हुआ। छायावादी कविताओं में प्रकृति को मानव रूप में देखा गया और इन तत्वों को लेकर छायावादी कवियों ने नयी शैली में गीतों का प्रणयन किया। गीत लिखने में इन कवियों ने पाश्चात्य छन्दों को भी स्वीकृति दी। इस काल के प्रमुख कवि हैं—श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री मुकुटधर पांडे, श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सुमित्रानंदन पंत, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', सुश्री महादेवी वर्मा, श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री गोपालशरण सिंह आदि।

श्री मैथिलीशरण गुप्त के गीतों में 'ओज' का दर्शन होता है। उनके छायावादी गीत 'झंकार' में संग्रहीत हैं। झंकार के अतिरिक्त 'अनघ', 'साकेत', 'यशोधरा' आदि कृतियों में भी उनके स्फुट गीत दिखायी पड़ते हैं। 'वेदना' के सम्बन्ध में गुप्तजी की अनुभूति देखिये :—

वेदने, तू भी भली बनी !
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
नई किरण छोड़ी है तू ने, तू वह हीर कनी।
सजग रहूं मैं, साल हृदय में ओ प्रिय विशिख अनी॥'

(साकेत)

गुप्त जी में तुक का विशेष आग्रह है, अतः कहीं-कहीं इस आग्रह के कारण गीत के माधुर्य-तत्त्व को आघात लगा है।

श्री जयशंकर प्रसाद के छायावादी गीतों का विकास 'झरना' से माना जा सकता है। उन्होंने प्रकृति को आलंबन मान कर भी उसमें मानवीय चेतना का आरोप किया है। वेदनामय गीतों से पूर्ण 'आँसू' प्रसाद के गीतों का परिचय देता है। 'प्रसाद' कृत 'लहर' उनके संगीतपूर्ण रचना का सुन्दर संग्रह है। 'उषा' का रूपक स्पष्ट करते हुये उन्होंने छायावादी मूर्त-विधान-पद्धति को स्वीकार करके 'बीती विभावरी जाग री' जैसी पंक्तियों से युक्त गीत की सृष्टि की है :—

'बीती बिभावरी जाग री
अंबर पनघट में डुबो रही तारा-घट उषा नागरी"

प्रसाद के गीतों में कल्पना, मूर्त-विधान, लाक्षणिकता आदि का सुन्दर समन्वय है।

श्री सुमित्रानन्दन पंत की कविताओं में संगीतात्मकता, मूर्तविधान और कल्पना की अतिशयता प्रचुर रूप में दिखाई पड़ती है। 'कल्पना' का जैसा उत्कर्ष उनके 'बादल' शीर्षक कविता में मिलता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। मूर्तविधान उनकी 'छाया' शीर्षक कविता में देखिये :—

'कौन कौन तुम परिहित वसना
म्लान-मना, भू-पतिता सी
धूल-धूसरित मुक्त-कुन्तला
किसके चरणों की दासी'

श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का मूर्तविधान भी छायावादी दृष्टि से अनुपम है :—

'दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से
उतर रही, संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे धीरे धीरे।'

निराला के इस गीत में चित्रात्मकता, मूर्तविधान और माधुर्य का अद्भुत समन्वय है।

सुश्री महादेवी वर्मा ने भी प्रकृति को मूर्त रूप देकर छायावादी स्वर मुखरित किया है:—

'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ बसंत-रजनी
तारकमय नव वेणी-बंधन
शीश-फूल कर शशि का नूतन
रश्मि-वलय सित घन-अवगुण्ठन
मुक्ताहल अविराम बिछा दे, चितवन से अपनी
पुलकित आ बसंत-रजनी'

रहस्यवादी गीतकार:—आधुनिक युग का गीतकार जब प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्वों में मानव-चेतना को देखते हुये रहस्य की ओर मुड़ जाता है और 'किसी विराट-सत्ता' के सम्बन्ध में विचार करने लगता है, तब उसके गीत 'रहस्यवाद' की कोटि में पहुँच जाते हैं। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी और रामकुमार वर्मा आदि के गीतों में यह रहस्य-तत्त्व विशेष रूप से स्फुरित हुआ है। महादेवी जी तो इस रहस्यवादी साधना के क्षेत्र में अति उच्च भूमि पर पहुँच चुकी हैं।

प्रसाद जी ने उस अनन्त, विराट के सम्बन्ध में कितनी ही जिज्ञासायें व्यक्त की हैं। पन्त जी ने अपने को 'चिर-उत्कण्ठातुर' मानकर अपनी जिज्ञासा व्यक्त की है। 'मौन-निमन्त्रण' में उनका रहस्य-

वादी स्वर स्पष्टतः सुनायी पड़ता है। 'निराला' जी की कविताओं और उनके गीतों में रहस्य की ध्वनि स्वभावतः आ गयी है।

'डोलती नाव प्रखर है धार
संभालो जीवन खेवन-हार
तिर तिर फिर फिर
प्रबल तरङ्गों में
घिरती है
डोले पग जल पर
डगमग डगमग
फिरती है
टूट गयी पतवार
जीवन खेवन हार !'

रहस्यवादी कवियों में सुश्री महादेवी वर्मा का स्थान सर्वोपरि है। अपनी वेदना, जिज्ञासा और मिलन-आकांक्षा को उन्होंने अपने गीतों में भर दिया है। वे 'उस असीम' के सम्बन्ध में कह उठती हैं:—

'उस असीम का सुन्दर मन्दिर
मेरा लघुमय जीवन रे
क्या पूजा क्या अर्चन रे'

वे 'प्रिय' की पदचाप सुनती हैं और उससे इस 'अवनी' को 'पुलकित' होती मानती हैं।

श्री रामकुमार वर्मा ने भी रहस्यवादी गीतों का प्रणयन किया है। 'जीवन' के सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि उस परब्रह्म ने इस जीवन को 'आँसू' का रूप बनाया है:—

'यह जीवन तो छाया है
केवल सुख-दुख की छाया
मुझको निर्मित कर तुमने
आँसू का रूप बनाया।'

निराशावादी गीतकार:—जीवन की अनुभूतियों में आशा ही का नहीं, निराशा का भी बहुत बड़ा स्थान है। निराशा के गीत गाने वालों में हालावादी कवि बच्चन, निराशावादी कवि रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र आदि का विशेष स्थान है।

श्री हरिवंशराय 'बच्चन' इस प्रकार के गीतों के प्रवर्तक हैं। 'मधुशाला' के स्वर में उन्होंने अपनी निराशा से लोगों को परिचित कराया। भाग्यवादी की तरह उन्होंने कहा:—

'लिखी भाग्य में जितनी बस
उतनी ही पायेगा हाला,
लिखा भाग्य में जैसा बस
वैसा ही पायेगा प्याला,
लाख पटक तू हाथ-पाँव पर
इससे कब कुछ होने का
लिखी भाग्य में तेरे जो बस
वही मिलेगी मधुशाला।'

अपने दुखों के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी पुस्तक 'मधुबाला' में कहा है:—

'गीत कह इसको न दुनियाँ
यह दुखों की माप मेरे।'

श्री रामकुमार वर्मा ने अपनी निराशा की व्याप्ति प्रकृति तक में मान ली है। वे वसंत को वसंत न मानकर उसके 'रंगों में' 'आग' को छिपा

मानते हैं। उन्हें 'निर्झर' उनके ही समान 'किसी व्याकुल की अश्रुधार' लगता है।

श्री नरेन्द्र ने भी 'प्रवासी के गीत' में अपनी 'निराशा' का सुन्दर कथन किया है:—

'आयगा मधु-मास फिर भी, आयगी श्यामल घटा फिर
आँख भर कर देख लो, अब मैं न आऊँगा कभी फिर'

उन्होंने अपने जीवन में 'मिलन' का विश्वास छोड़ दिया है:—

'यदि मुझे उस पार के भी मिलन का विश्वास होता
सत्य कहता हूँ न मैं असहाय या निरुपाय होता'

यह 'निरुपाय' स्थिति निराशा का ही प्रमाण है।

प्रगतिवादी गीतकार:—प्रगतिवादी गीतकारों के दो रूप हिन्दी साहित्य में दिखायी पड़ते हैं। कुछ गीतकारों ने राष्ट्रीय गीत लिखे हैं और कुछ ने सर्वहारा, मजदूर और वर्ग-विषमतासम्बन्धी। इन पर अलग-अलग विचार आवश्यक है।

(१) राष्ट्रीय धारा:—राष्ट्रीय धारा के कवियों में श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सुमित्रानंदन पंत, श्री दिनकर, श्री 'नवीन', श्री माखनलाल चतुर्वेदी आदि का नाम उल्लेखनीय है। प्रसाद जी ने राष्ट्रीय गीतों का कथन अपने नाटकों में किया है। 'मधुर यह मधुमय देश हमारा' और 'हिमाद्रि तुङ्ग श्रृङ्ग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' जैसे पद इसी प्रकार के गीतों में स्थान पाते हैं। 'मधुर यह मधुमय देश हमारा' शुद्ध गीत है, और 'हिमाद्रि तुङ्ग श्रृग से' प्रयाण-गीत। पंत ने भी 'भारत माता ग्राम वासिनी' में राष्ट्रीय गीत का स्वर स्वरित किया है। दिनकर ने 'हिमालय', 'दिल्ली' आदि कविताओं में अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण का

परिचय दिया है। श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने कवि को आह्वान देते हुये कहा है:—

'कवि कुछ ऐसी तान सुना दो जिससे उथल पुथल मच जाये
एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये।'

'भारतीय आत्मा' ने 'हिम किरीटनी' में कितने ही राष्ट्रीय गीतों का गान किया है। श्री सोहनलाल द्विवेदी भी इसी धारा के कवि हैं।

(२) वर्ग-भेदसम्बन्धी गीत:—वर्ग-भेद को लेकर प्रगतिवादी गीत विपुल मात्रा में रचे गये हैं। इस प्रकार के गीतों के प्रमुख गीतकार हैं—सर्वश्री पंत, निराला, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, अंचल, सुमन आदि। पंत ने 'विश्व को ग्रामीण नयन' से देखा है। उन्होंने 'पतझर' में कहा है:—

'कङ्काल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर पल्लव लाली
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली।'

'ग्राम-युवती' शीर्षक कविता में भी प्रगतिवादी स्वर स्पष्ट सुन पड़ता है। श्री 'निराला' ने 'नये पत्ते' में 'देवी सरस्वती' शीर्षक कविता में कहा है:—

'हरी भरी खेतों की सरस्वती लहराई
मग्न किसानों के घर उन्मद बजी बधाई।'

'दिनकर' जी ने दिल्ली शीर्षक कविता में 'आहें उठी दीन कृषकों की मजदूरों की तड़प पुकारें' जैसी पंक्तियों से 'कृषक' और 'मजदूर' की 'आह' का कथन किया है। श्री भगवतीचरण वर्मा ने अपने 'मधुकण'

जैसे संग्रह में क्रान्ति के गीत गाये हैं। 'अञ्चल' की कवितायें वर्ग-भेद का स्वर लिये हुये हैं:—

'मानव को पशु चिर मूक बना, तुम दानव बन शोषण करते
तुम जो, श्रेणी के भेद बढ़ा, जनता को चूस उदर भरते।'

'सुमन', 'नागार्जुन' आदि भी इसी धारा के गीत गाते दिखायी पड़ते हैं। श्री केदारनाथ अग्रवाल ने नयी तर्ज पर 'मछुआ-गीत' लिखा है:—

माँझी न बजाओ बंशी मेरा मन डोलता
... ...
मेरा तन, तेरा तन एक बन झूमता॥'

प्रगतिवाद के साथ गीत का नया रूप द्रष्टव्य है।

प्रयोगवादी गीतकार:—कविता के क्षेत्र में अत्याधुनिक जो धारा प्रचलित हुई है, उसे प्रयोगवाद की संज्ञा मिली है। यह मध्यम-वर्गीय धारा है। इसमें मध्यम वर्ग की समस्या का कथन प्रतीकों के माध्यम से किया गया है। इस धारा में अस्पष्टता, रूप-वैचित्र्य आदि का विशेष महत्त्व है। रूप की महत्ता के कारण इस धारा के गीत भी कुछ नये प्रकार के हैं। कहीं-कहीं तो एक शब्द ही, गीत की एक पंक्ति बन जाता है। 'शमशेर' की कविताओं का यही रूप है। इस धारा के प्रमुख गायक हैं—अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर, प्रभाकर माचवे, रघुवीर सहाय, नेमिचन्द आदि। इनकी रचनाओं में वैयक्तिक असंतोष की लहर दिखायी पड़ती है।

'अज्ञेय' ने 'इत्यलम्' के 'विश्वास' में कहा है:—

'तुम्हारा यह उद्धत विद्रोही
घिरा हुआ है जग से,
पर है सदा अलग निर्मोही।'

'अज्ञेय' ने 'नदी के द्वीप' की तरह अपना (मध्यम वर्ग का) अस्तित्व माना है और 'नियति' पर विश्वास रखते हुये कहा है :—

'द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप।
यह अपनी नियति है।'

शमशेर की प्रतीक-पूर्ण एक गीतात्मक कविता देखिये :—

'सावन की उनहार
आँगन पार।
मधु बरसे, हुन बरसे
बरसे स्वाती-धार
आँगन पार।'

(आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ)

अंग्रेजी गीत-शैली पर लिखे गये गीत :—हिन्दी में अंग्रेजी गीत-शैली पर भी सुन्दर गीत लिखे गये हैं। Sonnet अर्थात् चतुर्दशपदी की रचना 'प्रसाद' जी के समय से ही आरम्भ हो गयी थी। 'सिन्धु कभी क्या बड़वाग्नि को यों सह लेता' जैसी प्रथम पंक्ति से आरम्भ होने वाली 'प्रसाद' की कविता या 'मधुप गुनगुना कर कह जाता एक कहानी है अपनी' जैसी आत्मकथापूर्ण कविता, 'सानेट' पद्धति पर ही लिखी गयी है। Ode (सम्बोधन-गीत) भी हिन्दी में लिखे गये हैं। निराला जी की 'खंडहर' शीर्षक कविता और पन्त की 'बापू के प्रति' शीर्षक कविता 'संबोधन-गीत' ही हैं। पंत की 'अंधकार के प्रति' कविता भी इसी प्रकार की कविता है। Elegy (शोक-गीत) भी हिन्दी में लिखे गये हैं। 'निराला' जी की 'सरोज-

स्मृति' तथा अन्य कवियों द्वारा बापू की मृत्यु पर लिखी गयी विभिन्न कवितायें, इसी शैली का परिचय देती हैं। इसी प्रकार हिन्दी में Satire (व्यंगगीत) और उपदेशात्मक गीत भी लिखे गये हैं। पाश्चात्य गीत-शैली पर कविताओं को लिखने का आग्रह बढ़ रहा है और चतुर्दशपदी को कई रूप में लिखने का क्रम दिखाई पड़ने लगा है। कहीं कहीं ४-४ पंक्तियों के तीन पद लिखकर अन्त में दो पंक्ति और लिख कर, भावान्विति बनाये रखने की चलन चल रही है; और कहीं ६-६ पंक्तियों के दो पदों को देकर, दो पंक्तियाँ बाद में जोड़ने की प्रवृत्ति है। इस पद्धति पर लिखने वाले कवियों में प्रमुख हैं:—सर्वश्री 'प्रसाद', 'निराला', 'पंत', सियारामशरण गुप्त, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, प्रभाकर माचवे, त्रिलोचन शास्त्री।

७. कहानी

जन्म लेने के बाद से ही बालक में स्वाभाविक उत्सुकता आ जाती है, वह विभिन्न वस्तुओं को देखने के लिये तथा उसे समझने के लिये उत्सुक रहने लगता है। इसी समय से वह कार्य-कारण-सम्बन्ध भी स्थापित करने लग जाता है। इसी कार्य-कारण-सम्बन्ध की स्थापना एवं कौतूहल-वृत्ति के परिणाम-स्वरूप वह जब किसी को कुछ कहते हुए सुनता है तो उसे सुनने में ही अपने ध्यान को लगा देता है, और यदि बोलने की शक्ति उसमें आ गयी रहती है तो पूछने लगता है—'हाँ, इसके बाद क्या हुआ।' यह 'उत्सुकता' ही कहानी का मुख्य तत्त्व है। नानी या दादी के मुख से कहानी सुनने वाले बालक से लेकर साहित्यिक कहानी पढ़ने वाले पाठक तक इसी 'औत्सुक्य' से परिचालित रहते हैं।

परिचय

'उत्सुकता' की यह भावना बालक में जन्म लेने के बाद से ही जाग जाती है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि 'कहानी' कहने और सुनने का क्रम बहुत पहले से ही चला आ रहा है। मौखिक कहानियों—'तोता-मैंना'—से जो कहानी-कला विकसित हुई उसका परिवर्धित रूप आज की कहानियों में देखने को मिल रहा है। इन कहानियों का मूल उद्देश्य 'उत्सुकता' को वृद्धिगत करते हुये उसका शमन करना तथा श्रोता या पाठक का मनोरंजन करना था। किन्तु इसके साथ ही उससे कुछ उपदेश भी दिये जाते थे। 'हितोपदेश' की कहानियों में उपदेश की वृत्ति का पूरा पूरा परिचय मिलता है। एक अंग्रेजी लेखक ने लिखा है कि कहानी के माध्यम से परामर्श या उपदेश देना एक सुन्दर कला है।

कहानी में कुछ कहने की वृत्ति होती है। यह 'कहना' जितनी ही अच्छी तरह से संभव होगा, कहानी भी उतनी ही अच्छी होगी। हम किसी के चरित्र से प्रभावित होकर जब उसका 'बखान' करने लगते हैं तो यह भी एक कहानी ही होती है। जब हम किसी वातावरण से विशेष प्रभाव ग्रहण कर, उसका वर्णन इस रोचक ढंग से करने लगते हैं कि श्रोता या पाठक उसे सुनने या पढ़ने के लिये उत्सुक हो उठता है, तो यह वर्णन भी एक 'कहानी' ही होती है। समाज में उपस्थित विभिन्न घटनाओं का कथन भी कहानी ही है। इसी दृष्टि से आजकल कहानी के विभिन्न भेद किये गये हैं। इन भेदों का वर्णन प्रसंग आने पर किया जावेगा।

कहानी की परिभाषा

जो वस्तु जितनी ही सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही कठिन होती है। कहानी की परिभाषा करने वालों ने उसके तत्त्वों के आधार पर विभिन्न परिभाषायेंकी हैं। श्री एच. जी. वेल्स ने कहानी के साथ एक घण्टे में पढ़े जाने की विशेषता जोड़ दी है। श्री एडगर एलेन पो के अनुसार 'कहानी एक वर्णनात्मक गद्य है। इसके पढ़ने में तीस मिनट से लेकर एक घण्टे तक का समय लगता है।' कहानी के सम्बन्ध में दी गयी सर ह्यू वालपोल की परिभाषा विशेष महत्त्वपूर्ण है। श्री गुलाब राय ने इस परिभाषा को उद्धृत करते हुये उसका अनुवाद इस प्रकार किया है[1] :—'कहानी, कहानी होनी चाहिये अर्थात् उसमें घटित होने वाली वस्तुओं का लेखा-जोखा होना चाहिये। वह घटना और आकस्मिकता से पूर्ण हो, उसमें क्षिप्रगति के साथ अप्रत्याशित विकास हो जो कौतूहल द्वारा चरमबिन्दु और संतोषजनक अन्त तक ले जाय।' अर्थात्—'A short story should be a story—a record

---

१—काव्य के रूप : पृष्ठ २१५

of things full of incident and accident, swift movement, unexpected development leading through suspense to a climax and a satisfying denouement.'

इन सभी परिभाषाओं में कहानी के विभिन्न तत्त्वों पर ही विचार हुआ है। समय और पृष्ठ के आधार पर एक रचना को कहानी और दूसरी को उपन्यास कहना ग़लत है।

कहानीकार प्रेमचन्द जी ने कहानी का उद्देश्य, मनुष्य के खण्ड जीवन को चित्रित करना माना है। कहानीकार का कर्तव्य, मुख्य उद्देश्य का साहित्यिक रसास्वादन कराना है। श्री रायकृष्ण दास के अनुसार कहानी मनोरंजन के साथ साथ सत्य का उद्‌घाटन करती है। कहानी के गुण-दोष और उनके भेदक-तत्त्वों पर विचार करने के बाद कहानी की जो परिभाषा बनती है, वह इस प्रकार है :—

'कहानी वह नाटकीय आख्यान है जिसमें औत्सुक्य, मनोरंजन और सत्य का उद्‌घाटन होता है तथा प्रभावान्विति की तीव्रता होती है।'

कहानी और विविध साहित्य

(१) कहानी और नाटक :—कहानी और नाटक दोनों में ही खण्ड जीवन का चित्र चित्रित होता है। किन्तु कहानी 'श्रव्य काव्य' है और नाटक 'दृश्य काव्य'। नाटक में अभिनय की प्रधानता होती है, कहानी में वातावरण के कथन से अभिनय की पूर्ति की जाती है। नाटककार नाटक में अपनी ओर से कुछ भी नहीं कह पाता, उसे सब कुछ पात्रों के संवाद के माध्यम से ही व्यक्त करना पड़ता है। कहानीकार भी संवादों का ही आश्रय लेता है, किन्तु नाटककार की अपेक्षा कुछ हद तक कहानीकार अपनी बात कहने की भी स्वतंत्रता रखता है। नाटक में समय का तथा उपकरण का भी प्रतिबन्ध होता है, कहानी इस प्रकार के प्रतिबन्धों से मुक्त होती है।

(२) कहानी और उपन्यास :—कहानी में खण्ड जीवन का या किसी एक विशिष्ट घटना का कथन होता है। उपन्यास में पूर्ण जीवन का या विभिन्न घटनाओं का कथन होता है। कहानी में प्रासङ्गिक कथायें अल्पतर मात्रा में रहती हैं, उपन्यास में विभिन्न प्रासङ्गिक कथाओं को भी स्वीकृति मिलती है। कहानी में लेखक अपनी ओर से बहुत कम कहता है, किन्तु उपन्यास में उपन्यासकार बहुत कुछ अपनी ओर से कहने में स्वतन्त्र होता है। कहानी में आदि से अन्त तक कौतूहल की तीव्रता रहती है, किन्तु उपन्यास में इस कौतूहल-वृत्ति में स्थान स्थान पर कमी भी आ सकती है। कहानी में उपन्यास की अपेक्षा प्रभाव की तीव्र अन्विति हुआ करती है।

(३) कहानी और गद्य-गीत :—गद्य-गीत में विशिष्ट मानसिक भाव का भावनापूर्ण, कवित्वमय शैली में कथन होता है; किन्तु कहानी की शैली गद्यमय होती है और उसमें कई एक मानसिक भावों का आकलन हो सकता है।

(४) कहानी और रेखा-चित्र—कहानी और रेखा-चित्र एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। कहानी में भी मुख्यतः एक पात्र का ही कथन होता है और रेखा-चित्र में भी। रेखा-चित्र में पात्र के स्थायी रूप का आकलन होता है और कहानी में उसके विकासशील रूप का। कहानी में प्राक्कथन होता है और रेखा-चित्र में वर्णन।

जिन कारणों से किसी वस्तु का निर्माण होता है, उनको 'तत्त्व' कहते हैं। कहानी के निर्माण में भी विभिन्न तत्त्वों का योग रहता है। ये

कहानी के तत्त्व

तत्त्व हैं—कथानक, कथनोपकथन, पात्र (चरित्र-चित्रण), वातावरण, शैली, उद्देश्य। इन छः तत्त्वों के संगठन पर ही 'कहानी' का निर्माण होता है।

कथानक :—भारतीय आचार्यों की दृष्टि से कथानक तीन प्रकार

का होता है—(१) प्रख्यात—जिसमें इतिहास अथवा पुराण के प्रसिद्ध पात्रों या घटनाओं का कथन हो। (२) उत्पाद्य—जिसमें किसी कल्पित पात्र या घटना का वर्णन हो। (३) मिश्रित—जिसमें पात्र या घटना इतिहास या पुराण से लिए गये हों पर कल्पना के द्वारा उनमें परिवर्तन भी परिलक्षित किया गया हो।

स्वरूप के आधार पर कथानक के दूसरे तीन भेद देखने को मिलते हैं:—(१) घटनाप्रधान:—जिसमें घटना को प्रमुखता प्राप्त होती है और घटना के कारण चरित्रों में परिवर्तन होता है। (२) चरित्र-प्रधान:—जिसमें कोई विशिष्ट चरित्र अपने चारित्रिक बल से परिस्थितियों में मोड़ उपस्थित करता है। (३) वातावरणप्रधान:-जिसमें घटना या पात्र को प्रधानता न मिलकर किसी वातावरण को प्रधानता प्राप्त होती है। जैसे 'अज्ञेय' की 'रोज' शीर्षक कहानी।

मुख्य और प्रासंगिक कथानक के आधार पर कथानक सुगठित और शिथिल आदि भेदों में भी विभक्त होता है। मुख्य कथा को पुष्ट करने के लिए प्रयुक्त प्रासंगिक कथाओं का सुन्दर निर्वाह, सुगठित कथानक की सृष्टि करता है।

नाटक की तरह ही कहानी के कथानक में भी आरम्भ, संघर्ष, चरम-अवस्था और निगति का विधान है। चरम-अवस्था के कारण कहानी में एक नये प्रकार का उत्कर्ष आ जाता है। इस अवस्था के न रहने पर भी शैली की दृष्टि से कोई दोष नहीं माना जाता। 'संघर्ष' वर्तमान समय में कहानी का मुख्य तत्त्व बन गया है। अन्तर्द्वन्द्व, बहिर्द्वन्द्व तथा मनोविश्लेषण आदि का विधान इसी तत्त्व को सफल बनाने के लिये किया जा रहा है। 'प्रसाद' जी की कहानी 'पुरस्कार', 'आकाशदीप' आदि का अन्तर्द्वन्द्व विशेष महत्त्वपूर्ण है।

कथनोपकथन

कहानी के कथानक को आगे बढ़ाने के लिये भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति और चरित्र-चित्रण के लिये कथनोपकथन की विशेष उपयोगिता होती है। कथनोपकथन को पात्र और परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिये। उसके द्वारा उत्सुकता की वृद्धि होनी चाहिये। जिस कथनोपकथन में उत्सुकता को बढ़ाने का गुण नहीं होता वह त्रुटिपूर्ण माना जाता है। कथनोपकथन दो प्रकार का होता है—(१) अप्रत्यक्ष अथवा नाटकीय (२) प्रत्यक्ष अथवा विश्लेषात्मक। अप्रत्यक्ष कथनोपकथन—जिसमें लेखक अपनी ओर से कुछ न कहकर केवल पात्रों के संवाद के द्वारा सब कुछ कहलाता है वह अप्रत्यक्ष कथनोपकथन माना जाता है। कहानी के लिये इसी प्रकार का कथनोपकथन अच्छा माना गया है। नाटक में केवल इसी प्रकार का कथनोपकथन प्रयुक्त होता है। प्रत्यक्ष कथनोपकथन—जब लेखक स्वयं किसी बात को अपनी ओर से कहता है तब साधारण कथनोपकथन माना जाता है। नाटक में इस तरह के कथनोपकथन को एकदम अस्वीकार कर दिया गया है। कहानी में भी बहुत कम मात्रा में ऐसे कथनोपकथनों का प्रयोग होता है। उपन्यास में इनका प्रयोग, साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक होता है।

चरित्र-चित्रण

वर्तमान युग की कहानियों में चरित्र-चित्रण को विशेष महत्त्व मिला है। चरित्र-चित्रण का अर्थ है—पात्र के व्यक्तित्व का कथन। पात्र के व्यक्तित्व के कथन में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा लेखक अपने पात्र का विभिन्न परिस्थितियों में परिचय देता है। कहानी के पात्र भी नाटक या उपन्यास के पात्रों की तरह दो प्रकार के होते हैं—(१) व्यक्तिगत व्यक्तित्व से सम्पन्न (२) वर्गगत व्यक्तित्व से सम्पन्न।

व्यक्तिगत व्यक्तित्व वाले पात्रों के चरित्र-चित्रण में व्यक्ति की उन मौलिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाता है जो सामान्य व्यक्ति में न होकर केवल उस पात्र में वर्तमान होती हैं। प्रेमचन्दजी की 'क्षमा' शीर्षक कहानी में 'दाउद' का क्षमाशील व्यक्तित्व उसका अपना व्यक्तित्व है। वर्गगत चरित्र का अर्थ है—उस व्यक्ति का चरित्र जो किसी वर्ग या समुदाय का प्रतिनिधित्व करता हो। जब व्यक्ति की विशेषतायें उसकी अपनी विशेषतायें न होकर किसी वर्ग की होती हैं तब उसका चरित्र वर्गगत व्यक्तित्व वाला माना जाता है। प्रेमचन्दजी के 'मुक्तिमार्ग' शीर्षक कहानी में झींगुर और बुद्धू का चरित्र गाँव के व्यक्तियों की प्रतिशोधपूर्ण भावना का प्रतिनिधित्व करता है।

पाश्चात्य-साहित्य-सिद्धान्त में 'Three unities' को बहुत महत्त्व मिला है। हिन्दी-साहित्य-विदों ने इसे 'संकलनत्रय' कहकर स्वीकार कर लिया है। कोई भी कहानी किसी विशेष

वातावरण

देश, विशेष काल और विशेष पात्र को लेकर लिखी जाती है। इसी देश, काल, पात्र के संगठित प्रभाव को वातावरण कहा जाता है। वातावरण के द्वारा लेखक कथा-वस्तु का आभास देता है। ऐतिहासिक कथानकों से युक्त कहानी में देश-काल-पात्र का विशेष महत्त्व होता है। त्रेता की घटना को कहानी रूप में कहने के लिये लेखक को भाषा और कथनोपकथन के द्वारा त्रेता का वातावरण प्रस्तुत करना पड़ता है और वर्तमान युग की कहानी कहते समय वर्तमान युग का वातावरण।

भावात्मक कहानी का लेखक, कहानी की कथा का पूर्वाभास देने के लिये प्रकृति का कथन करता है। इस प्रकृति-कथन का प्रयोजन

भी वातावरण ही प्रस्तुत करना होता है। प्रसाद की कहानी 'आकाश-दीप' में इस प्रकार का सुन्दर वातावरण देखने को मिलता है—'अनन्त जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट उठा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी। सागर शान्त था। नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं। बंदी मुक्त है।'

भाषा-शैली

भाव यदि प्राण है तो भाषा और शैली काया। भावों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही होती है। भाषा पर अधिकार न होने पर सुन्दर से सुन्दर भाव भी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं पा सकते। कहानीकार अपने भाव के अनुरूप कभी संस्कृत-गर्भित, कभी सरल, कभी कवित्वमय, कभी नित्य-प्रति के व्यवहार में आनेवाली भाषा का प्रयोग करता है। भाषा के प्रयोग में भाव की अनुरूपता पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये। भाव के अनुरूप भाषा का प्रयोग अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक होता है। विभिन्न लेखकों की भाषा भी इसीलिये विभिन्न प्रकार की होती है।

अभिव्यक्ति के साधनों के उपयोग की रीति का नाम शैली है। कहानी लिखने की विभिन्न शैलियाँ हैं। कहानीकार इन शैलियों में से किसी एक को माध्यम बनाकर अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है। वर्तमान युग में कहानी लिखने की ये पाँच शैलियाँ प्रचलित हैं:—

(१) अन्यपुरुषात्मक अथवा वर्णनात्मक शैली:—कहानीकार इतिहास-लेखक की तरह अपनी कथावस्तु का कथन करता है। वह तटस्थ दर्शक की तरह जब अपनी वर्ण्य वस्तु का वर्णन करता है तब अन्य-पुरुषात्मक शैली कहलाती है। इसीलिए ऐसी कहानी में 'वह' का प्रयोग विशेष रूप से रहता है। यथा:—प्रेमचन्द की 'बूढ़ी काकी'। ऐसी

कहानियों में संवाद की अपेक्षा लेखक द्वारा दिया गया वर्णन ही विशेष महत्त्वपूर्ण होता है।

(२) आत्मकथा शैली:—पात्र या कहानीकार स्वयं अपनी ओर से 'मैं' शैली में कथा कहता है। इसमें पात्रों का संवाद न होकर एक पात्र या कई पात्र क्रम से उपस्थित होकर घटनाओं का कथन 'मैं' शैली में करते हैं। 'सुदर्शन' जी की 'कवि की स्त्री' में सत्यवान, सावित्री और माणिराम क्रम से आते हैं और आत्मकथा की प्रणाली में अपने जीवन की घटनाओं का कथन करते हैं। इन तीनों को इस क्रम से उपस्थित किया गया है कि अलग अलग कही गयी इनकी आत्म-कथा ही शृंखला-बद्ध होकर पूरी कहानी बन गयी है। 'अज्ञेय' जी की 'रोज' शीर्षक कहानी में भी लेखक स्वयं अपनी ओर से ही 'मैं' शैली का आश्रय लेकर अपनी बात कहता दिखायी पड़ता है।

(३) संवादात्मक शैली:—संवाद या कथनोपकथन कहानी का एक विशिष्ट तत्त्व है। संवादात्मक शैली का लेखक संवादों के द्वारा सम्पूर्ण वातावरण की सृष्टि करता है और अपने मन्तव्य की सिद्धि करता है। इस शैली में लेखक अपनी ओर से भी यदि कुछ कहता है तो चरित्र को उत्कर्ष देने के लिए ही कहता है। वर्णनात्मक शैली में लेखक के द्वारा दिये गये वर्णन की प्रधानता होती है, किन्तु संवादात्मक शैली में संवादों की। 'कौशिक' जी की 'ताई' कहानी इसी पद्धति पर लिखी गयी है। पूरी कहानी में 'रामेश्वरी' और 'बाबू साहब' का पारस्परिक कथन दिखायी पड़ता है। लेखक ने यदि अपनी ओर से भी कुछ कहा है तो वह रामेश्वरी, मनोहर आदि के चरित्र को विकास देने के लिए ही कहा है।

(४) पत्रात्मक शैली:—जब विभिन्न पात्र स्वयं सम्मुख उपस्थित होकर संवाद उपस्थित नहीं करते, बल्कि एक दूसरे को पत्र लिखकर

अपने भावों की अभिव्यक्ति करते हैं तब 'पत्रात्मक-शैली' का दर्शन होता है। इस शैली के अन्तर्गत पत्र और पत्रोत्तर के ही द्वारा पूरी कहानी कही जाती है। श्री विनोदशंकर जी की 'अपराध' शीर्षक कहानी पत्रात्मक शैली में ही लिखी गयी है। इसमें केवल पत्र के द्वारा ही भाव की अभिव्यक्ति हुई है।

(५) डायरी शैली:—जब 'डायरी' लिखने की शैली में पूरी कहानी कही जाय तो डायरी शैली होती है। पत्र शैली से इसका बहुत थोड़ा अन्तर है। इसमें सम्बोधन की आवश्यकता नहीं होती, केवल तिथि देकर भावनापूर्ण भाषा में वर्ण्य विषय का कथन होता है।

उद्देश्य:—काव्य के प्रयोजनों की चर्चा करते समय 'कान्ता-सम्मित उपदेश' की चर्चा की गयी है। इस उपदेश का अर्थ ही है—रचनाकार के किसी उद्देश्य की सिद्धि। कोई भी कला आज के युग में केवल स्वान्तःसुखाय नहीं हो सकती, उसमें 'परहित' की भावना अपने आप ही आ जाती है। आज का लेखक अपनी रचना में आज की समस्या और उसका हल देना चाहता है। कहानी जीवन के अत्यन्त निकट होती है, अतः कहानीकार कहानी के माध्यम से जीवन की यथार्थ स्थिति का कथन करता है। इस यथार्थ के कथन के कारण कहानी में 'यथार्थवाद' का नारा गूँज उठा। समाज में जिन बुराइयों को देखकर हम ऊब उठे हैं, उनसे मुक्ति पाने की इच्छा से मनोरंजन के निमित्त हम कहानी और उपन्यास पढ़ते हैं। पुस्तकों में भी वैसी ही यथार्थ की बात को पढ़कर जब घुटन का अनुभव होने लगा तब इस घुटन से मुक्ति देने के लिये कुछ आदर्शों की योजना भी कहानी में की गयी। 'आदर्श' का ढिंढोरा पीटने वालों ने कहानी में 'आदर्शवाद' का नारा लगाना चाहा। प्रेमचन्द जी ने पहले पहल समझा कि दोनों ही स्थिति

अनुपयुक्त है और दोनों में समन्वय होना चाहिये। अतः उन्होंने कहानी में 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' को पुष्ट किया। इसी आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को लेकर आज के कहानीकार अपनी रचना कर रहे हैं। आज के सभी कहानीकार अपनी कहानी के द्वारा विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति कर रहे हैं। उनकी कहानियों का आदर्श ही उनका उद्देश्य होता है। सुन्दर कहानी के लिये उद्देश्य को अप्रत्यक्ष ढंग से व्यक्त करना आवश्यक होता है। कहानीकार को अपने उद्देश्य की पुष्टि इस ढंग से करनी चाहिये कि पाठक को इस बात की अनुभूति ही न हो सके कि लेखक कुछ उपदेश या संदेश भी देना चाहता है। अर्थात् उद्देश्य की पूर्ति सांकेतिक पद्धति पर ही होनी चाहिये।

कहानी का विकास

कहानी का इतिहास बहुत पुराना है। वैदिक काल में यज्ञ-विधान आदि को विषय बनाकर कहानियाँ कही जाती थीं। उपनिषद्काल में आध्यात्मिकता और ज्ञान-विज्ञान की चर्चा कहानी का विषय बना। पुराणकाल में जातीय, राष्ट्रीय एवं सामाजिक भावनाओं का कथन कहानी के माध्यम से होने लगा। बौद्ध काल में 'जातक-कथाओं' के द्वारा पात्रों के ऐश्वर्य का कथन और प्रचार का उद्देश्य सिद्ध हुआ।

११वीं सदी के पूर्व तक की कहानियाँ महाभारत के उपाख्यान, जातक-कथा, पुराण-कथा, उदयन के प्रेम, विक्रमादित्य के न्याय आदि के रूप में प्रचलित थीं। ११ वीं सदी के बाद बाह्य आक्रमण के परिणाम-स्वरूप मनोरंजन से लोगों का मन कुछ हट सा गया और कहानियों के विकास में कुछ गतिरोध सा आ गया। कथा-साहित्य के विकास का दूसरा युग १२वीं शताब्दी से मानना चाहिये। मुसलमानों का आधिपत्य फैल जाने पर विचारों का आदान-प्रदान आरम्भ हुआ और हमने अरब वालों से 'अरबियन नाइट' को लेकर 'सहस-

रजनी चरित' की रचना की। हमारे यहाँ के 'पञ्चतंत्र' का तुर्की भाषा में अनुवाद हुआ और 'तुर्की' में उसे 'तूतीनामा' कहा गया।

१२ वीं शताब्दी के बाद जो कहानियाँ आईं, उन पर मुसलमानी प्रभाव था। सूफी-प्रेम की उनमें व्यञ्जना थी। मुसलमानी युग की इन कहानियों की पहली विशेषता थी—प्रेम-कथाओं की अभिव्यक्ति। इस विशेषता के परिणाम-स्वरूप 'लैला-मजनू' और 'शीरीं-फरहाद' पर कहानियाँ लिखी गयीं। इस युग की दूसरी विशेषता थी—हास्य और विनोद की सृष्टि। बीरबल और अकबर को लेकर विभिन्न 'लतीफे' कहे गये। इस युग की कहानियों में राजा, रानी, राजकुमार आदि का ही प्रमुखतः चित्रण रहा। इन कहानियों में सामान्य जनता के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया। इनमें कुछ अति-मानवी और प्राकृतिक प्रसङ्गों का भी कथन हुआ।

२० वीं सदी से कहानी का आधुनिक युग अर्थात् तृतीय विकास आरम्भ हुआ। १९०० ई० में 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी में आधुनिक ढङ्ग की कहानियों के प्रकाशन का श्रीगणेश हुआ। इन पत्रिकाओं ने कहानियों के विकास में विशेष योग दिया है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार सरस्वती में जो मौलिक कहानियाँ, इस आरम्भिक अवस्था में प्रकाशित हुई हैं वे हैं—किशोरी लाल गोस्वामी कृत 'इन्दुमती' (सं० १९५७) और 'गुलबहादुर' (सं० १९५९); मास्टर भगवानदास कृत 'पलेग की चुड़ैल' (सं० १९५९), रामचन्द्र शुक्ल कृत 'ग्यारह वर्ष का समय' (सं० १९६०), गिरिजा दत्त वाजपेयी कृत 'पण्डित और पण्डितानी' (सं० १९६०) और बंग-महिला कृत 'दुलाई वाली' (सं० १९६४)।

इन कहानियों में 'दुलाई वाली' के कथानक, पात्र आदि ने वर्तमान युग की ओर मुड़ने का पथ दिखलाया। संवत् १९६८ में गुलेरी जी कृत 'सुखमय जीवन' के द्वारा साधारण परिस्थितियों के कथन के साथ मनोरञ्जक घटनाओं की सृष्टि हुई। इसके बाद ही प्रसाद जी की 'ग्राम' शीर्षक कहानी का भी दर्शन हुआ। सं० १९५७ से सं० १९६७ तक के इस युग को हम आधुनिक कहानी का प्रयोगकाल कह सकते हैं।

आधुनिक कहानियों का प्रथम उत्थान प्रसाद जी के प्रथम कहानी-संग्रह 'छाया' से मानना चाहिये। इसका प्रकाशन सं० १९६९ में हुआ। इसके पश्चात् प्रसाद जी द्वारा लिखे गये अन्य कहानी-संग्रह भी सामने आये। 'प्रसाद' की कुछ कहानियाँ ऐतिहासिक थीं। यथा—'आकाशदीप', 'ममता' आदि, और कुछ कल्पना और व्यञ्जना से पूर्ण, यथा—'समुद्र-सन्तरण'। उनकी कहानियों में समाजगत भावों की अपेक्षा व्यक्तिगत भावों का अधिक कथन हुआ है।

संवत् १९६९ में श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'परदेशी' कहानी प्रकाशित हुई। इसमें वातावरण को प्रधानता दी गयी है। संवत् १९७० में राजा राधिकारमण सिंह कृत 'कानों में कंगना' का प्रकाशन 'इन्दु' में हुआ। ये आदर्शवादी लेखक थे और इनकी भाषा कवित्वपूर्ण थी। सं० १९७० में श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' के 'रक्षाबन्धन' का प्रकाशन हुआ। यह कहानी घटना-मूलक है। इसकी शैली 'कथनोपकथनात्मक' है। सं० १९७१ में पं० ज्वालादत्त शर्मा ने कहानी-क्षेत्र में प्रवेश किया। इनकी कहानियों में दैवी घटना का योग रहता है। इनकी शैली अनिश्चित थी और इनकी कहानियों का उद्देश्य सामाजिक रूढ़ियों तथा परम्परागत प्रथाओं का खण्डन करना था। 'अनाथ-बालिका', 'विधवा' आदि कहानियों में यही रूप देखने

को मिलता है। सं० १९७१ में श्री चतुरसेन शास्त्री कृत 'गृह-लक्ष्मी' का प्रकाशन हुआ।

कहानी-कला के सभी उत्कृष्ट तत्त्वों से युक्त पहली कहानी गुलेरी जी कृत 'उसने कहा था' का प्रकाशन सं० १९७३ में हुआ। आकर्षक आरम्भ के साथ प्रसाद गुण से पूर्ण, वातावरणप्रधान, यथार्थवादी इस कहानी को लिखकर गुलेरी जी ने एक नयी दिशा दी।

कहानी के प्रथम उत्थान का उत्तरार्ध प्रेमचन्द जी के आगमन के साथ आरम्भ हुआ। सं० १९७३ में उनकी 'पंच-परमेश्वर' शीर्षक कहानी प्रकाशित हुई। इनकी कहानियों में 'आदर्शोन्मुख-यथार्थवाद' का कथन हुआ। प्रेमचन्द जी की स्फुट कहानियों के अतिरिक्त उनकी कहानियों का संग्रह 'मानसरोवर' कई भागों में देखने को मिलता है। उन्होंने अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिक भावनाओं का उद्घाटन किया है। सं० १९७४ में रायकृष्ण दास और सं० १९७५ में श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कहानियों का प्रकाशन हुआ। 'नवीन' जी की कहानियों में राष्ट्रीय भावना का कथन है। सं० १९७६ में चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' और श्रीगोविन्द वल्लभ पंत की कहानियों से हिन्दी-जगत परिचित हुआ। 'हृदयेश' जी की भाषा आलंकारिक एवं कवित्वपूर्ण थी। सं० १९७७ में कहानी-क्षेत्र में श्री सुदर्शनजी का प्रवेश हुआ। वे सामाजिक प्रगति के साथ चलनेवाले कलाकार हैं। इसी के बाद राष्ट्रीय भाव को प्रधानता देनेवाले 'उग्र' जी का दर्शन होता है। उनकी कहानियों में एक नये प्रकार की जिन्दगी दिखायी पड़ती है। उनकी भाषा में अजीब मस्ती भरी रहती है।

सं० १९८१ में हिन्दी-जगत का परिचय श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी से हुआ। उनकी कहानियों में मध्यमवर्गीय समाज के ह्रासोन्मुख जीवन का चित्र रहता है। इनकी कहानियों के संग्रहों में 'खाली बोतल', 'पुष्करिणि' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। सं० १९८२ में विनोद शंकर व्यास की पहली कहानी प्रकाशित हुई। इनमें भावुकता और करुणा के साथ ही निराशावाद और प्रेम की असफलता का कथन है। 'विधाता' शीर्षक कहानी में कुछ यथार्थवादिता भी आ गयी है।

कहानी-साहित्य का द्वितीय उत्थान काल सं० १९८५ से माना जाता है। इस द्वितीय उत्थान काल के आरम्भ में कुछ लेखक मार्क्स से प्रभावित होकर प्रगतिवादी भावों का कथन कर रहे थे। बाद में कुछ लेखकों ने गांधीवाद का प्रभाव ग्रहण किया और कुछ ने वर्तमान मनोविश्लेषणवाद के आधार पर मन की कुंठाओं और हीन भावनाओं का। गांधीवाद से प्रभावित होकर गांधीवादी आत्म-पीड़ा का कथन करने वाले कहानीकारों में श्री जैनेन्द्र जी का नाम उल्लेखनीय है। १९८५ में इनकी कहानी 'फांसी' और 'खेल' का प्रणयन हुआ। इनकी कहानियों में विचार की प्रधानता रहती है। इनके संग्रह हैं:—'वातायन', 'दो चिड़ियां' आदि।

मन की कुण्ठा का वर्णन करने वालों में अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि का विशेष स्थान है। 'प्रतिध्वनियां' और 'कड़ियां' शीर्षक कहानियाँ अज्ञेय की कला का परिचय देती हैं। 'विपथगा' और 'परम्परा' में अज्ञेय की कहानियाँ संकलित हैं।

अभिशप्त जनता की चीत्कार को कहानी के माध्यम से सामने रखने वाले कलाकारों में 'यशपाल' जी सुख्यात हैं। 'दास-धर्म', 'काला

आदमी' आदि में संग्रहीत कहानियाँ, यशपाल जी की कहानी-कला का परिचय देती हैं। अमृतराय, ख्वाजा मुहम्मद अब्बास आदि भी प्रगतिशील कहानी-लेखक हैं।

हिन्दी-साहित्य में हास्यरस की कहानियों के लेखक के रूप में श्री जी. पी. श्रीवास्तव, श्री अन्नपूर्णानन्द वर्मा तथा श्री बेढब बनारसी सुख्यात हैं।

कहानी-लेखिकाओं में सुश्री शिवरानी देवी, होमवती देवी, श्री उषा देवी मित्रा, श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, श्रीमती कमला देवी चौधुरी, श्रीमती कमला त्रिवेणीशंकर और श्रीमती चन्द्रकिरण सोनरेक्सा का नाम उल्लेखनीय है।

---

८. उपन्यास

परिचय और परिभाषा:—हिन्दी-साहित्य में उपन्यास की विधा का आरम्भ संस्कृत की परम्परा से न होकर अंग्रेजी की परम्परा से हुआ। संस्कृत में उपन्यास नहीं थे, इसलिये उपन्यास के लिए हिन्दी के साहित्यकारों को अंग्रेजी उपन्यासों की ओर मुड़ना पड़ा। आरम्भ में बँगला और अंग्रेजी के उपन्यासों के अनुवाद रूप में हिन्दी में 'उपन्यास' की रचना हुई।

अंग्रेजी में 'उपन्यास' के लिये 'नावेल' (Novel) शब्द का प्रयोग होता है। इसका अर्थ है 'नवीन'। यूरोपीय साहित्य में मनोरंजन-पूर्ण लम्बी कथावस्तु से युक्त जो गद्यमयी रचना प्रस्तुत हुई, उसे वहाँ के लोगों ने 'Novel' कहकर पुकारा और बाद में इस (Novel) की परिभाषायें निर्मित हुईं। 'हडसन' ने उपन्यास और इतिहास के सम्बन्ध में कहा है[1]:—'In Fiction every thing is true except names and dates, in History nothing is true except names and dates.' अर्थात् कथा-साहित्य में नाम और तिथि के अतिरिक्त अन्य सभी बातें सच होती हैं, इतिहास में नाम और तिथि के अतिरिक्त कुछ भी सच नहीं होता।'

उपन्यास के सम्बन्ध में 'शिप्ले' की परिभाषा देखिए:—[2] 'A fictions prose tale or narrative of considerable

---

१. An Introduction to Literature. पृ० १६६

२. The Quest for Literature. पृ० ३५४

length, in which characters and actions professing to represent those of real life are portrayed in a plot.' अर्थात् एक विशिष्ट लम्बाई से युक्त वर्णन अथवा काल्पनिक कथा जिसमें कथानक के मध्य वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों और कार्यों का चित्रण हो।'

'दी कनसाइज आक्सफोर्ड डिक्सनरी आफ करेंट इङ्गलिश' में भी उपन्यास की कुछ ऐसी ही परिभाषा की गयी है[1] :— 'Fictitious prose narrative of sufficient length to fill one or more volumes portraing character and actions representative of real life in continuous plot.' अर्थात् 'एक प्रवाहमय कथानक में व्यक्त, एक विशिष्ट लम्बाई से युक्त, काल्पनिक गद्य प्राक्कथन जिसमें समाज के वास्तविक पात्रों एवं कार्यों का वर्णन हो।'

'दी न्यू स्टैण्डर्ड इनसाइक्लोपीडिया एण्ड वर्ल्ड एटलस' में 'नावेल' के सम्बन्ध में कहा गया है[2] :—'Work of prose fiction primarily one that has a background of real life. It developed from the romance which deals with legendary matter and originated in the 'Novella of Boccaccio' and other writers' अर्थात् 'काल्पनिक गद्य का वह कार्य जो मुख्यतः वास्तविक जीवन पर आधारित हो। इसका साहस और स्वच्छन्दता की भावना से विकास हुआ, यह प्राचीन

१. The Concise oxford Dictionary of current English. पृ० ७७५

२. The New standard Encyclopaedia and world Atlas. पृ० ९४३

कथा के तत्त्वों से युक्त रहता है तथा इसका उद्गम 'बोकैशियो' के 'नोवेला' तथा अन्य लेखकों की कृतियों में प्राप्त है।'

'चासैरियन एरा' (Chacerien era) के लेखकों में बोकैशियो, आकलैंड आदि का विशिष्ट स्थान है और Novel को इन्हीं लोगों ने पहले पहल प्रस्तुत किया था।

'नावेल' का हिन्दी रूपान्तर 'उपन्यास' शब्द में व्यक्त है। 'उपन्यस्यते इति उपन्यासः' के द्वारा उपन्यास का अर्थ होता है—'वक्तव्य'। उपन्यास वह वक्तव्य है जिसे पठन और श्रवण के लिये प्रस्तुत किया जाता है। उपन्यास का यह अर्थ व्युत्पत्ति-मूलक है। उपन्यास के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारकों की परिभाषा पर विचार हो चुका है। श्री प्रेमचन्द जी ने उपन्यास की जो परिभाषा दी है वह विचारपूर्ण है।[1] वे कहते हैं—'मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।............ चरित्रसम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नत्व में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य है।'

विभिन्न परिभाषाओं पर विचार करने के बाद श्री गुलाब राय जी ने उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार की है[2]—'उपन्यास कार्य-कारण-शृंखला में बँधा हुआ वह गद्य-कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित वास्तविक वा काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।'

---

१. 'उपन्यास' शीर्षक निबन्ध से। २. 'काव्य के रूप' : पृ० १७०

उपन्यास मानव के पूर्ण जीवन का चित्र होता है। उसमें मनुष्य के जीवन में घटित होनेवाली समस्त घटनाओं का कथन होता है। जीवन की प्रमुख और प्रासंगिक घटनाओं पर अपेक्षित विचार उपन्यासकार के विचार का विषय होता है। उपन्यासकार के लिये आवश्यक होता है कि वह प्रासंगिक बातों की उलझन में अधिक न पड़े और मुख्य घटनाओं को इस प्रकार से ग्रथित करे कि उपन्यास के पाठक की उत्सुकता बनी रहे और 'अन्विति' को ठेस न लगने पावे। जिस मूल भाव के उद्देश्य से उपन्यास लिखा गया हो उसका पूर्ण कथन होना आवश्यक होता है।

उपन्यास की विशेषता

किसी भी उपन्यास की समीक्षा करने के लिये उसके ६ तत्त्वों—कथानक, कथनोपकथन, चरित्र-चित्रण, देश-काल-पात्र, उद्देश्य और भाषा-शैली—पर विचार करना आवश्यक होता है। उपन्यास के लिये इन ६ तत्त्वों की अनिवार्यता रहती है।

उपन्यास के ६ तत्त्व

कथानक:—उपन्यास का आधार है—कथानक। जीवन से सम्बन्धित वे सभी घटनायें, जिन्हें सुसंगत पद्धति पर क्रमबद्ध कर उपन्यासकार अपने मन्तव्य को पूर्ण करता है, कथानक कहलाती हैं। उपन्यास का कथा-तत्त्व ही कथानक है। उसके अन्य तत्त्व तभी पुष्ट होते हैं जब कथानक सुदृढ़ होता है। असंगत और शिथिल कथानक, चरित्र और वातावरण भी उपस्थित करने में लाचार सिद्ध होते हैं। समाज के विभिन्न घटनाओं को देखकर कथानक निर्मित किया जाता है। कथानक, इतिहास और पुराण से भी लिया जा सकता है और व्यक्ति के चरित्रों का विश्लेषण कर अपनी कल्पनाओं के बल पर भी खड़ा किया जा सकता है।

उपन्यास-लेखक की सफलता इस बात में है कि वह जिस कथानक को चुने, अपने सूक्ष्म अनुभव और अपनी शैली से उसे मौलिक बनाकर प्रस्तुत करे। उसके कथानक में एक क्रम होना चाहिये। क्रम में असंबद्धता होने पर अन्विति में बाधा पड़ती है। कथानक को रोचक बनाकर उपस्थित करना आवश्यक होता है। रोचकता के बिना 'औत्सुक्य' तत्त्व दब जाता है। कथानक के माध्यम से ही लेखक को पात्रों का चरित्र-विश्लेषण और वातावरण-सृजन करना होता है। अतः कथानक निर्माण करते समय लेखक उसकी मौलिकता, सुसंबद्धता और रोचकता पर विशेष ध्यान देता है। इन सब विशेषताओं के साथ ही कथानक में 'संभवता' नाम का एक विशेष गुण अपेक्षित होता है। उपन्यास के कथानक को संभावना से परे, कोरी कल्पना का विषय न होना चाहिये। उसे सत्य पर आधारित होना चाहिये।

कथनोपकथन:—किसी कथा-साहित्य में कथा को आगे बढ़ाने के लिये कथनोपकथन अर्थात् वार्तालाप और संवाद की विशेष आवश्यकता पड़ती है। कथनोपकथन से कथा आगे बढ़ती है तथा पात्रों के चरित्र का विश्लेषण होता है।

कथनोपकथन को सरस, सरल, स्वाभाविक, संक्षिप्त तथा प्रसंग के अनुकूल होना चाहिये। सरस प्रसंगों के अभाव में पाठक ऊबने सा लगता है और उसे उपन्यास के पढ़ने में रुचि नहीं मिलती। कथनोपकथन यदि सरल न होकर उलझे हुये होंगे तो उन्हें समझने के लिये मस्तिष्क को व्यायाम करना होगा, फलतः घटना की उलझन में मन रम नहीं पावेगा और औत्सुक्य-तत्त्व बाधित होगा। अतः सरलता भी कथनोपकथन के लिये आवश्यक है। कथनोपकथन की

स्वाभाविकता का अर्थ है—पात्र के अनुकूल कथनोपकथन की स्थिति। पात्र यदि उर्दू-दाँ हो तो उसके मुँह से संस्कृत-तत्सम शब्दों से युक्त कथनोपकथन कहलाना अनुचित होगा। इसी प्रकार पंडित पात्र के मुँह से शुद्ध फारसी और अरबी से समन्वित संवाद कहलाना अनुपयुक्त होगा। कथनोपकथन के संक्षिप्त होने से कथावस्तु में एक प्रकार का कसाव रहता है और इससे कथानक में शिथिलता नहीं आने पाती। प्रसंग के प्रतिकूल होने पर कथनोपकथन रुचि को नष्ट कर ऊब पैदा करता है। अतः कथनोपकथन प्रसंग के अनुकूल ही होना चाहिये।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण का अर्थ है पात्रों के चरित्रगत विशेषताओं का कथन। पात्र मुख्यतः दो श्रेणी के माने गये हैं (१) वर्गगत (२) व्यक्तिगत। वे पात्र वर्गगत चरित्र प्रस्तुत करते हैं जिनमें चरित्र की अपनी कोई मौलिकता नहीं होती और जो समाज के किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते रहते हैं। प्रेमचन्दजी के 'गोदान' में रायसाहब और होरी क्रमशः जमींदार और मजदूर-वर्ग के प्रतिनिधि बनकर आते हैं। 'रंगभूमि' में 'जान सेवक' उद्योग-पतियों का ही प्रतिनिधि बनकर आया है। उसमें अपनी चारित्रिक मौलिकता नहीं है, अतः वह वर्गगत चरित्र का प्रस्तुत-कर्ता माना जाता है। पात्रों का एक दूसरा वर्ग भी होता है। वह अपनी मौलिक विशेषताओं को लेकर सामने आता है, वह किसी वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करता। 'अज्ञेय' का 'शेखर' एक ऐसा ही पात्र है। चरित्र-चित्रण की दो विधायें होती हैं—(१) नाटकीय (२) विश्लेषात्मक। नाटकीय चरित्र-चित्रण तब होता है जब एक पात्र अपने मुँह से अपना चरित्र उद्घाटित करता है अथवा एक पात्र दूसरे पात्र का चरित्र उद्घाटित करता है।

इसके विपरीत विश्लेषात्मक पद्धति में लेखक स्वयं सामने आ जाता है और वह पात्रों के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त करने लगता है।

(१) नाटकीय पद्धति :—वर्मा जी कृत 'मृगनयनी' में इसी पद्धति के आधार पर बोधन पुजारी, लाखी और निन्नी के सम्बन्ध में कह उठता है:—'उनकी सुन्दरता के विषय में या तो कवि ही कुछ कह सकता है या कुशल चित्रकार, और मैं इनमें से एक भी नहीं।' निन्नी का स्व-स्वीकृति (Self-confession) भी इसी पद्धति का परिचायक है:—'मुझको ताव जल्दी आ जाता है।'

(२) विश्लेषात्मक पद्धति :—श्री वृन्दावन लाल वर्मा ने 'मृगनयनी' में निन्नी की आँख के सम्बन्ध में कहा है:—'निन्नी की बड़ी-बड़ी आंख में बनावटी रोब और मुस्कान की फड़क थी।'

इस शैली में 'गोदान' के पृष्ठ ८२ पर लेखक, मिर्जा खुर्शेद का परिचय देता है:—'मिर्जा खुर्शेद गोरे-चिट्टे आदमी थे, भूरी-भूरी मूँछें, नीली आँखें, दुहरी देह, चाँद के बाल सफाचट।'

उपन्यास के सत्य में विश्वास रखने के लिये और उसकी वास्तविकता को दिखलाने के लिये Three unities (संकलनत्रय) पर विशेष ध्यान देना होता है। उपन्यास में जिस देश का कथन किया जाता है, उसका उचित परिचय पाठक को मिल सके इस उद्देश्य से उस देश के उपयुक्त वातावरण को उपस्थित किया जाता है। बात भारत की कहनी हो और वातावरण यूरोप का रक्खा जाय तो कथावस्तु मन को उचित रूप से छू न सकेगी। इसी प्रकार काल का भी ध्यान

देश-काल-पात्र (वातावरण)

रखना आवश्यक होता है। त्रेता की बात कहनी है तो त्रेता के अनुकूल वेष-विन्यास और पदावली का प्रयोग होना चाहिये। इससे अस्वाभाविकता नहीं आने पाती। ऐतिहासिक उपन्यासों के लिये तो देशकाल और वातावरण की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है। अतः उपन्यास को सफल बनाने के लिये उपन्यासकार वातावरण-सृजन में सदा सतर्क रहता है।

उद्देश्य :—प्रत्येक रचना का कुछ न कुछ उद्देश्य हुआ करता है। 'कला कला के लिये' की बात इस समय नहीं चल सकती। कोई भी कला बिना प्रयोजन के नहीं होती। कला तो अनुभूति की अभिव्यक्ति है और अनुभूति विभिन्न वस्तुओं या सत्यों के सूक्ष्म निरीक्षण का फल है। कलाकार सत्य को देखकर उस पर चिन्तन करता है और उसे अभिव्यक्त कर पाठकों को उससे परिचित कराता तथा एक नयी राह दिखलाता है। वह विभिन्न समस्याओं को भी सामने रखता है और उनके हल को भी। आज सभी कलायें उद्देश्य-समन्वित और प्रयोजनवती हैं। उपन्यास का उद्देश्य अपने पूर्व रूप में मनोरंजन करना था। मनोरंजन का कार्य बहुत दिन तक अपने आप में पूर्ण नहीं माना जा सका, फलतः लोग यथार्थ का चित्र उपन्यास में उपस्थित करने लगे। अंग्रेजी की वजन पर Realism के लिये यथार्थवाद और Idealism के लिये आदर्शवाद जैसे शब्द गढ़ लिये गये। कुछ लेखकों ने उपन्यास का उद्देश्य यथार्थ का चित्रण समझा और कुछ लोगों ने आदर्श का कथन। उपन्यासकार प्रेमचन्द जी ने इन दोनों में समन्वय स्थापित किया और आदर्शोन्मुख-यथार्थवादी उपन्यासों की रचना पर जोर दिया।

आज का उपन्यासकार अपने विचारों को अपने उपन्यास के

माध्यम से व्यक्त करता है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति ऐसे परोक्ष ढंग से होती है कि पाठकों को उसके इस क्रिया-कलाप का स्पष्ट अनुभव नहीं होने पाता। उपन्यासकार को चाहिये कि वह यथार्थ को आधार बनाकर 'लोक-मंगल' की भावना से युक्त अपने आदर्शों को इस प्रकार चित्रित करे कि उपन्यास की औपन्यासिकता दबने न पावे और कार्य की सिद्धि भी हो जावे।

भाषा-शैली :—उपन्यास में मनोरंजन और उपदेश दोनों का ही समावेश होता है। पाठक मनोरंजन के लिये उपन्यास पढ़ते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से उसके उद्देश्यों से परिचित होते हैं। उपन्यास में इसीलिये 'प्रसाद गुण' का विशेष प्रयोग होता है। सुस्पष्टता उपन्यासकार की शैली का प्रधान गुण होना चाहिये। संवाद की चुस्ती, नाटकीयता, लाक्षणिकता, व्यंग्य और आलंकारिकता आदि भी शैली के गुणों में ही परिगणित हैं। इन गुणों का प्रत्येक लेखक अपने ढंग से प्रयोग करता है। इसी प्रयोग के आधार पर लेखकों की शैली एक दूसरे से भिन्न होती है। प्रेमचन्द जी की शैली सरल, स्वाभाविक और नित्य-प्रति के व्यवहार में आने वाली भाषा से समन्वित है। 'प्रसाद' जी की शैली संस्कृतगर्भित है। शैली में भेद होना तो आवश्यक है, पर प्रसाद गुण सभी उपन्यासों की अनिवार्य विशेषता है।

उपन्यास के भेद :—उपन्यासों का विभाजन मुख्यतः दो प्रकार से किया जा सकता है। (१) विषय के आधार पर (२) कथानक के आधार पर।

विषय के आधार पर :—(१) ऐतिहासिक :—जिसमें कथावस्तु इतिहास से ली गयी हो और उसके माध्यम से चरित्र का उद्घाटन तथा उद्देश्य का प्रतिपादन हुआ हो। जैसे 'मृगनयनी' (२) राजनैतिक–

जिसका कथानक राजनीति के दलों या विचारों को स्पष्ट करने के लिये गढ़ा गया हो। जैसे 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' (३) सामाजिक:—जिसका कथानक समाज की विभिन्न परिस्थितियों और पात्रों को देखकर निर्मित हुआ हो, जैसे 'गोदान', 'गबन' आदि। सामाजिक उपन्यासों में मनोविज्ञान की गुत्थियों को सुलझाने वाले उपन्यास मनोवैज्ञानिक उपन्यास कहलाते हैं। जैसे 'पर्दे की रानी'

कथानक के आधार पर:—(१) घटना-प्रधान—जिन उपन्यासों में चरित्र को महत्त्व न देकर केवल घटनाओं को महत्त्व दिया गया हो। यथा—'तिलस्म' या देवकीनन्दन खत्री का 'चन्द्रकान्ता सन्तति' (२) चरित्र-प्रधान:—जिसमें घटना को महत्त्व न देकर चरित्र को महत्त्व दिया गया हो। यथा—जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि के उपन्यास (३) घटना-चरित्र प्रधान:—जिसमें घटना और चरित्र दोनों में समन्वय स्थापित किया गया हो। यथा—प्रेमचन्द जी के उपन्यास।

उपन्यास का विकास:—संस्कृत-साहित्य में कहानियाँ तो थीं किन्तु उपन्यास का अभाव था। उपन्यास की कोटि में इस साहित्य की जो पुस्तकें रक्खी जा सकती हैं, वे हैं—दशकुमारचरित और कादम्बरी। 'कादम्बरी' आधुनिक उपन्यास के अधिक निकट है और उसकी इस स्थिति के कारण महाराष्ट्र में उसे 'उपन्यास' का वाचक बना दिया गया है। भाषा-विज्ञान के 'अर्थ-विचार' में 'अर्थ-विस्तार' की अपनी उपयोगिता है। अर्थ-विस्तार के कारण ही दुहिता सभी पुत्रियों का वाचक बन गया। इसी अर्थ-विस्तार के कारण कादम्बरी भी उपन्यास का वाचक बन बैठा और अब मराठी भाषा में उपन्यास के लिये 'कादम्बरी' शब्द का ही बराबर प्रयोग किया जाता है।

हिन्दी-साहित्य में लम्बी कथाओं को लिखने की प्रेरणा यदि

संस्कृत-साहित्य से मिली है तो वह इन्हीं पुस्तकों से। 'सारङ्गा सदाव्रिज', 'बैताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'किस्सा तोता-मैना' आदि इसी दिशा में किये गये प्रयोग हैं, किन्तु इन प्रयोगों की साहित्यिक उपयोगिता लगभग शून्य-सी है।

हिन्दी-गद्य को विकसित करने वाले लेखकों में श्री इंशाअल्ला खाँ और श्री सदल मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। श्री इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' और श्री सदल मिश्र की 'नासिकेतोपाख्यान' जैसी कृतियाँ कथा-साहित्य में विशेष स्थान रखती हैं। किन्तु हिन्दी साहित्य में प्रथम मौलिक उपन्यास के रूप में श्री निवास दास के 'परीक्षा गुरु' को ही मान्यता मिली। इसमें सुधारवादी दृष्टिकोण और उपदेशात्मक वृत्ति का परिचय दिया गया है। इसी दृष्टि से पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान न एक सुजान' की रचना की। बाबू राधाकृष्ण दास ने भी इसी समय 'निस्सहाय हिन्दू' नामक उपन्यास की रचना की। इस उपन्यास में व्यक्ति के ऊपर समाज का महत्त्व माना गया। उपन्यास का यह युग भारतेन्दु-युग के नाम से सुख्यात है। इस युग में बँगला और अंग्रेजी के उपन्यासों का अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया। बँगला के अनूदित उपन्यास थे—वङ्ग विजेता, दुर्गेश-नन्दिनी आदि।

उपन्यास के इस आरम्भिक युग में लोगों की दृष्टि कौतूहल और मनोरञ्जन पर अधिक थी। 'तिलस्म होश रुबा' से प्रभावित होकर उपन्यासों की रचना की जा रही थी। बाबू देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में तिलस्म की ही प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। द्विवेदी-युग में उपन्यास या तो मनोरञ्जन और कौतूहल की दृष्टि से लिखे जा रहे थे या सुधारवाद की दृष्टि से। इस समय कौतूहल को बढ़ाने के लिए जासूसी उपन्यास जोरों से लिखे जा रहे

थे। श्री गोपालराम गहमरी इसी प्रकार के लेखक थे। सुधारवादी लेखकों में श्री किशोरीलाल गोस्वामी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके उपन्यासों में कौतूहल के साथ साथ सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण भी हुआ है। इनके उपन्यासों में ऐतिहासिकता का भी समावेश था, यथा–'लवंगलता', 'चंचल', 'लखनऊ की कब्र' आदि।

इस युग में इन उपन्यासों को विशेष ख्याति मिली—हरिऔध जी कृत 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'अधखिला फूल' और लज्जाराम मेहता कृत 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति' आदि। द्विवेदी युग में पं० रूपनारायण पाण्डेय ने शरद, बंकिम और रवीन्द्र के उपन्यासों का अनुवाद भी प्रस्तुत किया।

द्विवेदी युग में ही उपन्यास के सम्बन्ध में विचारकों ने विचार करना आरम्भ कर दिया था। श्री प्रेमचन्द जी ने आदर्शोन्मुखी–यथार्थवादी उपन्यास लिखना आरम्भ किया और उन्होंने उपन्यास को क्रान्तिपूर्ण प्रगति प्रदान की। उनके घटना और चरित्र समन्वित सामाजिक उपन्यासों में सेवासदन, निर्मला, ग़बन, रंगभूमि, कर्मभूमि, गोदान आदि को विशेष ख्याति मिली और उपन्यास के क्षेत्र में फैली हुई भ्रान्तियाँ दूर हुईं। प्रेमचन्द जी की दृष्टि को अपनाकर 'कौशिक' जी ने भी 'माँ' और 'भिखारिणी' नामक उपन्यासों का प्रणयन किया।

श्री जयशंकरप्रसाद जी ने अपने कवित्वपूर्ण शैली में आदर्श और यथार्थ का समन्वय करते हुए 'कंकाल' और 'तितली' नाम के दो उपन्यास हिन्दी साहित्य को भेंट किये। उनके उपन्यास, चरित्र-प्रधान हैं। इन उपन्यासों में विचार की अपेक्षा भावना को उत्कर्ष दिया गया है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखक वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक आधार पर गढ़कुंडार, विराटा की पद्मिनी, मृगनयनी आदि की रचना की। उनके ऐतिहासिक उपन्यास दो श्रेणी में विभक्त हैं—(१) शुद्ध ऐतिहासिक:—गढ़ कुंडार, झाँसी की रानी। (२) ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक:—मृगनयनी।

उषादेवी मित्रा के उपन्यास भारतीय नारियों के उच्च आदर्श का प्रतिपादन करते हैं। श्री सियारामशरण गुप्त में नैतिकता का आग्रह है। श्री जैनेन्द्र जी गाँधीवादी आदर्श को लेकर रचना करते हैं। 'आत्म-पीड़ा' उनका मूल विषय है। उनके उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं। कहीं-कहीं परिस्थितियों के आवर्त में उनके नारी-पात्रों का चरित्र आदर्श-च्युत हो उठता है। वे मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को भी सुलझाने का प्रयत्न करते हैं, 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' ऐसे ही उपन्यास हैं।

पाप-पुण्य की नयी मीमांसा प्रस्तुत करने वाले तथा परिस्थिति और व्यक्ति पर विचार करने वाले लेखकों में श्री भगवतीचरण वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। उनके 'तीन वर्ष' में विद्यालय जीवन का चित्र उपस्थित किया गया है, 'चित्रलेखा' में पाप-पुण्य की परिभाषा है और 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में राजनीतिक वादों पर तर्कपूर्ण विचार हुआ है।

श्री भगवतीप्रसाद बाजपेयी एक मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों में वासना और कर्तव्य का द्वन्द्व रहता है। मनोविश्लेषण पर उनका विशेष ध्यान रहता है। उनकी कृति 'प्रेमपथ' में उनका दृष्टिकोण स्पष्ट है।

फ्रायड, एडलर आदि से प्रभावित होकर आज उपन्यासकार भी यौन-विकृतियों तथा हीनता की ग्रन्थियों का कथन कर रहा है। सर्वदानन्द वर्मा का 'नरमेध' यथार्थवाद के नाम पर एक कलंक है। यथार्थवाद और मनोविश्लेषण के नाम पर कई दूषित पुस्तकें आई हैं। द्वारिकाप्रसाद का 'घेरे के बाहर', इसी दूषित वृत्ति का पोषक है।

मनोविश्लेषणवादी किन्तु स्वस्थ उपन्यासकारों में इलाचन्द जोशी, नरोत्तम नागर और अज्ञेय का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है। जोशी जी का 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', तथा 'प्रेत और छाया' विशेष महत्त्व रखता है। नरोत्तम नागर का 'दिन के तारे' शीर्षक उपन्यास मनोवैज्ञानिक है। माँ के प्रभाव में रहने के कारण शशि का पत्नी से अधिक

प्रसन्न न रह सकना एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है और उसका उद्घाटन इस कृति में लेखक ने किया है। अज्ञेय कृत 'शेखर : एक जीवनी' में मनोविश्लेषण तो है ही, साथ ही शेखर—जो एक Abnormal आदमी है—का चरित्र उद्घाटित हुआ है।

उपन्यास-लेखकों में श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नाम भी स्मरणीय है। वे मानव का चरित्र उसकी परिस्थितियों के बीच व्यक्त करते हैं। 'वाद' के प्रभाव से वे मुक्त हैं। उनकी अपनी विशिष्ट शैली है। 'गिरती दीवारें' उनकी ख्यातिप्राप्त पुस्तक है।

उपन्यास पर मनोविश्लेषणवाद के प्रभाव के ही साथ मार्क्सवाद का भी प्रभाव पड़ा है। मार्क्स से प्रभावित होकर जिन लेखकों ने उपन्यास-रचना की है वे हैं 'यशपाल' और 'राहुल'। यशपाल के उपन्यास 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' और 'दिव्या' एक ओर रोमांस से युक्त हैं तो दूसरी ओर उनमें राजनीति का स्वर है। पात्रों की वार्ता के माध्यम से राजनीतिक सिद्धान्तों का खंडन और मंडन किया गया है। 'राहुल' जी ने 'सिंह सेनापति' जैसे ऐतिहासिक उपन्यासों के बीच मार्क्सवाद का स्वर गुंजित किया है।

वर्तमान युग के उपन्यासों में श्री फणीश्वरनाथ रेणु के विचार-प्रधान तथा प्रतीकात्मक उपन्यासों को विशेष ख्याति मिली है। 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' जैसे दो उपन्यासों को लिखकर लेखक ने यह ख्याति अर्जित की है।

उपन्यास के इस विकासक्रम को देखकर यह कहा जा सकता है कि जिस उपन्यास का आरम्भ मनोरंजन से हुआ, वह अब केवल मनोरंजन का साधन न होकर विभिन्न विचारधाराओं का वाहक बन गया है। उससे विभिन्न वादों का पोषण हो रहा है और उपन्यास की शैली में भारी परिवर्तन आ गया है। निश्चित ही साहित्य की इस विधा का भविष्य उज्ज्वल है।

—ooXoo—

९. निबन्ध

परिचय :—गद्य की संयत भाषा में संतुलित विचार व्यक्त करना ही निबन्धकार की सफलता मानी जाती है। निबन्धकार निबंध में अपने विचारों का तर्कपूर्ण किन्तु रसमय पद्धति में प्रतिपादन करता है और प्रतिपाद्य विषय का ज्ञान अपने पाठकों को कराता है। निबंध में लेखक की शैली का बड़ा महत्त्व होता है। रसपूर्ण अभिव्यक्ति निबन्ध के द्वारा संभव हो सके, इसके लिये निबन्ध-कार को अपनी शैली में परिष्कार लाना पड़ता है। इसीलिये निबंध के विभिन्न प्रकार हैं और उन सबके लिये अलग अलग निबन्ध-लेखन-शैली का कथन है। पाठक के ऊपर विचार का जो बोझ निबंध के कारण पड़ता है, उसे कुछ हद तक हलका करने का काम निबन्धकार की शैली द्वारा ही संपादित होता है। विचार और शैली का यह संतुलन निबन्धकार के कार्य को जटिल बना देता है। इसीलिये कवियों की कसौटी के रूप में गद्य को और गद्य की कसौटी के रूप में निबन्ध को स्वीकृति मिली है।

परिभाषा :—'निबन्ध' शब्द का व्यवहार प्राचीन संस्कृत-साहित्य में भी हुआ है। 'निबन्ध' शब्द आज Essay के लिये प्रयुक्त हो रहा है। फ्रांसीसी लेखक Montaigne ने Essay को जन्म दिया, उसके अनुसार Essay एक नये प्रयोग और प्रयत्न के रूप में स्वीकृत हुआ। किन्तु 'निबन्ध' प्रयत्न के अर्थ में व्यवहृत न होकर निबन्धन अर्थात् 'निःशेष' भाव से 'बन्ध' उपस्थित करने वाली विधा के रूप में हिन्दी-साहित्य में व्यवहृत है। पं० हजारी-

प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत-साहित्य में व्यवहृत होने वाले निबन्ध शब्द पर विचार करते हुये कहा है :[१] 'प्राचीन संस्कृत-साहित्य में 'निबन्ध' नाम का एक अलग साहित्यांग है। इन निबन्धों में धर्म-शास्त्रीय सिद्धान्तों की विवेचना है। विवेचना का ढंग यह है कि पहले पूर्वपक्ष में ऐसे बहुत से प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जो लेखक के अभीष्ट सिद्धान्त के प्रतिकूल पड़ते हैं। इस पूर्वपक्ष वाली शंकाओं का एक-एक करके उत्तरपक्ष में जवाब दिया जाता है। सभी शंकाओं का समाधान हो जाने के बाद उत्तरपक्ष के सिद्धान्त की पुष्टि में कुछ और प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं। चूँकि इन ग्रन्थों में प्रमाणों का निबन्धन होता है इसलिये इन्हें निबन्ध कहते हैं।' निबन्ध के सम्बन्ध में दिया गया द्विवेदीजी का यह मत इस बात का संकेतक है कि निबन्ध में बौद्धिक निस्संगता प्रधानतः वर्तमान रहती है और उससे प्रमाण या विचार का पोषण होता है।

डा० 'सैमुअल जानसन' ने एक स्थान पर निबन्ध के सम्बन्ध में अपना विचार दिया है। उनके अनुसार निबन्ध, मानसिक जगत का एक शिथिल बुद्धिविलास है। निबन्ध के सम्बन्ध में दिया गया उनका यह विचार आज की निबन्ध-कला से बहुत दूर है। चिन्तामणिकार रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार निबन्ध में व्यक्तित्व का होना आवश्यक होता है। यह व्यक्तित्व निबन्धकार की शैली का ही दूसरा नाम है। निबन्ध सम्बन्धी विभिन्न विचारधाराओं का अध्ययन करने के बाद यह कहा जा सकता है :—'निबन्ध वह गद्य की विधा है, जिसमें एक निश्चित विस्तार के बीच वर्ण्य वस्तु का विचारपूर्ण रोचक पद्धति से प्रतिपादन होता है और प्रतिपादित विचार आपस में इस

---

१. साहित्य का साथी :—पृ० १५०

प्रकार सुसम्बद्ध होते हैं कि पाठक अन्त में लेखक के तर्कपूर्ण भावों से उचित रूप में सहमत हो उठता है।'

निबन्ध-प्रबन्ध और लेख:—निबन्ध को अंग्रेजी में Essay और प्रबन्ध को Thesis कहते हैं। कुछ लोग निबन्ध को अंग्रेजी शब्द Composition का समानार्थी समझते हैं। Composition का अर्थ 'रचना' होता है। यद्यपि निबन्ध भी एक रचना है फिर भी रचना के अन्तर्गत अन्य विधाएँ भी आती हैं। अतः Composition या रचना के क्षेत्र में निबन्ध या Essay का समाहार हो सकता है पर दोनों को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। निबन्ध और प्रबन्ध में भेद है। निबन्ध में एक विशिष्ट विचार-परम्परा के साथ लेखक अपनी भाषा-शैली में अपने विचारों, भावों और मनोवृत्तियों का पोषण करता है। 'प्रबन्ध' में कई विचारों और वस्तुओं का एक में ग्रथन होता है। प्रबन्ध का लेखक प्रतिपाद्य विषय की उत्पत्ति और विवेचन को प्रस्तुत करता हुआ अपनी भाषा-शैली में उसके स्वरूप और उपयोग को स्पष्ट करता है। निबन्ध की अपेक्षा प्रबन्ध की सीमा विस्तृत है।

निबन्ध और लेख में भी पर्याप्त अन्तर है। लेख को अंग्रेजी में Article कहते हैं। लेख या Article की सीमा 'प्रबन्ध' से भी व्यापक माननी चाहिये। किसी भी गद्य-रचना को लेख या Article की संज्ञा दी जा सकती है। अपने इस अर्थ में वह निबन्ध-कला की ओर विशिष्ट रूप से निर्देश न कर सकेगा। अतः लेख किसी भी गद्य-रचना को कह सकते हैं, जब कि निबन्ध एक विशिष्ट शैली में लिखा गया गद्य है।

निबन्ध का महत्त्व:—मानव ज्ञान की उपासना करने वाला प्राणी है। वह किसी बात को जैसा सुनता है, उसे उसी रूप में स्वीकार

नहीं कर लेता। वह किसी वस्तु को जैसा देखता है, उसे उसी रूप में देखकर संतुष्ट नहीं रह जाता। वह उन बातों पर तथा देखी हुई वस्तुओं पर विचार करता है, उसका विश्लेषण करता है, उसके सम्बन्ध में प्राप्त विभिन्न मतों का परीक्षण करता है, और तब उसके सम्बन्ध में अपना निर्णय देता है। उसका निर्णय स्वयं उस वस्तु के सम्बन्ध में एक मत का रूप धारण कर लेता है और उस मत से अपनी आने वाली पीढ़ी को परिचित कराने का उद्देश्य लेकर, वह अपने मत का निबन्धन करता है। निबन्ध में बँधे हुए मतों से पाठक परिचित होते हैं और इन मतों पर विचार का क्रम चलता रहता है। ज्ञान को अग्रसर करने में निबन्ध के बीच बँधे हुए भाव सहायक होते हैं। अतः ज्ञान को आगे बढ़ाने तथा उसकी रक्षा करने के लिये, निबन्ध की विशेष आवश्यकता है।

निबन्ध के माध्यम से विचार अपने संयत रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करते हैं। निबन्ध लिखने की एक क्रिया है और 'लिखना' मानव को पूर्ण बनाता है। 'Writing (maketh) an exact-man' को यदि सत्य माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि निबन्ध लिखने से लेखक पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। निबन्ध के महत्त्व को ही स्वीकार करके आज विचारक यह कहते सुने जाते हैं कि गद्य कवि की कसौटी है और निबन्ध गद्यकार की।

निबन्ध का क्षेत्र :—निबन्ध का क्षेत्र असीमित है। किसी भी विषय पर निबन्ध लिखा जा सकता है। निबन्ध में विषय की अपेक्षा शैली मुख्य होती है। गौण से गौण विषय पर भी लेखक सुन्दर निबन्ध लिखने में सफल हुए हैं। आँख, कान और बात जैसे विषय को लेकर भी द्विवेदीयुगीन लेखकों ने सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। इन सरल विषयों के अतिरिक्त गंभीर और गूढ़ विषयों पर भी निबन्धकार

निबन्ध लिखने में सफल हुये हैं। आलोचनात्मक, मनोवैज्ञानिक तथा शोधपूर्ण निबन्धों की गंभीरता पर संदेह नहीं हो सकता। चिन्तामणि-कार रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध सरल विषयों पर भी हैं और गूढ़ एवं गंभीर विषयों पर भी। वर्तमान लेखकों में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' जैसे विषय को भी निबन्ध का विषय बनाया है और शोधपूर्ण एवं आलोचनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। निश्चित ही निबन्ध के लिये विषय की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती।

निबन्ध के प्रमुख अङ्ग :—आरम्भिक निबन्ध-लेखकों को अपनी भावधारा पर संयम रखने के लिये निबन्ध को तीन भागों में बाँटना पड़ता है। ये तीन भाग हैं—(१) प्रस्तावना, (२) विस्तार और (३) निर्णय या उपसंहार।

प्रस्तावना :—निबन्ध का पूर्वभाग प्रस्तावना-रूप होता है। निबन्ध के मूल विषय की भूमिका प्रस्तावना के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है। सुन्दर प्रस्तावना पाठक को अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता रखती है और उसी को आधार बनाकर निबन्ध में प्रतिपादित भावों का पल्लवन होता है।

विस्तार :—निबन्ध के मध्यभाग को विस्तार की संज्ञा दी गयी है। निबन्ध के मूल विषय का विश्लेषण और उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार, इस 'विस्तार' के अन्दर ही होता है। विषय से सम्बन्धित विभिन्न विचारों में क्रम लगाकर उनका एक एक करके उद्घाटन इसी 'विस्तार' की परिधि के बीच किया जाता है।

निर्णय या उपसंहार :—निबन्ध का अन्तिम भाग उपसंहार कहलाता है। भूमिका में जिस बात की प्रस्तावना होती है, विस्तार में जिसका विश्लेषण होता है, उसके सम्बन्ध की सभी जिज्ञासाओं को

इस निर्णय नामक शीर्षक के अन्दर शान्त किया जाता है। पूरे निबन्ध का निचोड़ इसी उपसंहार के अन्दर वर्तमान रहता है। प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि अपने पूर्ण रूप में यहीं संभव होती है। निबन्ध का उपसंहार-अंश तब सफल समझा जाता है, जब पाठक इस अंश को पढ़कर मूल विषय के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर ले और उसे उस सम्बन्ध में कोई उलझन न दिखायी पड़े।

निबन्ध का भेद:—निबन्ध की सीमा विस्तृत है। उसमें विभिन्न भावों का कथन होता है। भाव, विषय और लेखक के दृष्टिकोण के आधार पर निबन्ध के विभिन्न भेद किये जा सकते हैं। एक ही विषय को एक लेखक एक दृष्टि से देखता है और दूसरा दूसरी दृष्टि से। कभी-कभी तो स्वयं वही लेखक विभिन्न परिस्थितियों में उसी विषय को दूसरे रूप में देखता और उस पर विचार करता है। अपनी इन्हीं प्रतिक्रियाओं को वह निबन्ध में बांधता है। विषय और दृष्टिकोण के आधार पर निबन्धों को प्रमुखतः पांच भागों में बांटा गया है:—

(१) वर्णनात्मक (२) विवरणात्मक (३) विचारात्मक
(४) भावात्मक (५) आत्मव्यंजक

(१) वर्णनात्मक निबन्ध:—किसी वस्तु या दृश्य को देखकर उसका याथातथ्य वर्णन प्रस्तुत करना वर्णनात्मक निबन्ध कहलाता है। इन निबन्धों में सत्य का अंश अधिक रहता है। इस प्रकार के निबन्धों में कल्पना का भी प्रयोग होता है, किन्तु ज्ञानेन्द्रियाँ अधिक सचेत रहती हैं। इन्हीं ज्ञानेन्द्रियों के विशेष उपयोग से लेखक सत्य का विशिष्ट रूप में कथन करता है। इस प्रकार के निबन्ध प्राकृतिक एवं कृत्रिम दोनों ही पदार्थों के सम्बन्ध में लिखे जा सकते हैं। इस प्रकार के निबन्धों की भाषा सरल तथा वर्णन-प्रधान होती है। आरम्भ में निबन्धकार वस्तु के स्थूल-रूप का कथन करता है, इसके बाद उसके

सम्बन्ध में उठने वाली विभिन्न भावनाओं का कथन एवं अन्य लेखकों का तत्-सम्बन्धी उद्धरण प्रस्तुत करता है और अन्त में उसके सम्बन्ध में पाठकों को सोचने के लिये बाध्य करके अपनी लेखनी रोक देता है।

सरल निरलंकार भाषा की वर्णनात्मक शैली :—

'बाबू जी, गंगा मैया ने रास्ता तोड़ दिया, थोड़ी दूर पैदल ही चलना पड़ेगा।' 'बहुत अच्छा कहकर मैंने अनुरोध पालन किया। मेरी दाहिनी ओर गंगा मैया लापरवाही से बह रही थीं। कुछ महीने पहले ही इन्होंने भी साम्यवाद का प्रचार किया था। आस-पास के गाँवों के धनी-दरिद्र सबको एक समान भूमि पर ला खड़ा किया था। अब ये विश्रान्त भाव से बह रही थीं।'

—(हजारीप्रसाद द्विवेदी–विचार वितर्क)

(२) विवरणात्मक निबन्ध :—वर्णनात्मक निबंध की अपेक्षा विवरणात्मक निबन्ध अधिक कल्पना-समन्वित होता है। इस प्रकार के निबन्धों में घटनाओं के क्रमिक विकास पर विशेष ध्यान रक्खा जाता है। सत्य का अंश इस प्रकार के निबन्ध में भी रक्षित रहता है, किन्तु वर्णनात्मक की अपेक्षा अधिक कल्पना का योग होने के कारण विवरणात्मक निबन्ध अधिक रोचक होते हैं। यात्रा-सम्बन्धी तथा शिकार-सम्बन्धी निबन्ध इसी श्रेणी में स्थान पाते हैं। इस प्रकार के निबन्धों को ही 'कथात्मक-निबन्ध' भी कहा जाता है। ऐसे निबन्धों का लेखक, आरम्भ में क्रमानुसार घटना का चयन करता है। क्रम से घटनाओं का कथन करने के साथ ही उससे सम्बन्धित दृष्टान्त भी दिये जाते हैं। प्रत्येक घटना का कथन करने के बाद अन्त में तत्-सम्बन्धी सारांश उपस्थित किया जाता है और संभव हुआ तो सांकेतिक आलोचना भी की जाती है।

विवरणात्मक श्रेणी का एक उदाहरण:—

'लखनऊ से रात को साढ़े दस बजे गाड़ी छूटती थी। कुछ पहले ही स्टेशन पहुँच गया। इरादा था कि कुछ अच्छी सी जगह पा सकूँ। मित्र ने इण्टर-क्लास में बैठने का आग्रह कर दिया था। वह दरजा कुलीन गरीबों का दरजा है। हम जैसे अनेक दूसरे जन भी दरजा बढ़ाने की धुन में रहते हैं। इसलिये भीड़ की आशंका थी।..............पानी बरस जाने से लैम्प के आसपास और पूरे डिब्बे में पतंगों की भरमार थी। इन बिना टिकटों की संख्या का प्रश्न ही क्या ? अपने प्रदीप्त प्रेमी के निकट आकर आत्म-समर्पण का अधिकार उनका था।'

'सियाराम शरण गुप्त ('झूठ-सच' = हिमालय की झलक)'

(३) विचारात्मक निबन्ध:—विचारात्मक निबन्धों में विचार की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के निबन्धों का सम्बन्ध मस्तिष्क से अधिक रहता है। इन निबन्धों के विषय आकार मूलक न होकर चिन्तन और भाव मूलक होते हैं। विषय का स्थूलपरिचय ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा करने की अपेक्षा उसका सूक्ष्म परिचय तर्क-बुद्धि से प्राप्त किया जाता है। इन निबन्धों में विश्लेषण की विशेष प्रवृत्ति रहती है। शुक्लजी कृत 'कविता', 'लोभ और प्रीति' ऐसे ही निबन्ध हैं। विचारात्मक निबन्ध जब किसी विषय की विवेचना करते हैं तब 'विवेचनात्मक' की संज्ञा प्राप्त करते हैं। उनके द्वारा जब किसी कृति या कृतिकार की आलोचना होती है, तब वे 'आलोचनात्मक' कहलाते हैं और जब उनसे शोधपूर्ण विषय का प्रतिपादन किया जाता है तब वे 'गवेषणात्मक' कहलाते हैं।

विचारात्मक श्रेणी का एक उदाहरण:—'श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम श्रद्धेय से अपने लिये कोई

बात नहीं चाहते। श्रद्धा धारण करते हुये हम अपने को उस समाज में समझते हैं जिसके किसी अंश पर—चाहे हम व्यष्टि-रूप में उसके अन्तर्गत न भी हों—जानबूझकर उसने कोई शुभ प्रभाव डाला। श्रद्धा स्वयं ऐसे कर्मों के प्रतिकार में होती है जिनका शुभ प्रभाव अकेले हम पर नहीं, बल्कि सारे मनुष्य समाज पर पड़ जाता है।'

(श्रीरामचन्द्र शुक्ल—श्रद्धा-भक्ति)

(४) भावात्मक निबन्ध :—भावात्मक निबन्धों में राग का तत्त्व प्रधान रहता है। विषय को लेखक अपनी भावुकता की ओट से समझता है और अपनी कल्पना के रङ्ग में रङ्गकर उसे प्रस्तुत करता है। इस प्रकार के निबन्धों का लेखक विचारक की अपेक्षा कवि अधिक होता है। उसके निबन्धों में अलङ्कार आदि की योजना उसी प्रकार होती है जैसे कविता में। हृदय में उमड़ते हुये रस के वेग को भावावेश में आकर जब लेखक निबन्ध के माध्यम से सरस पद्धति पर व्यक्त करता है, तब उसके निबन्ध 'भावात्मक' कहलाते हैं।

भावात्मक निबन्ध का एक उदाहरण :—

'किसानों और मजदूरों की टूटी-फूटी झोपड़ियों में ही प्यारा गोपाल बंशी बजाता मिलेगा। वहाँ जाओ और उसकी मोहनी छबि निरखो। जेठ-वैशाख की कड़ी धूप में मजदूर के पसीने की टपकती हुई बूँदों में उस प्यारे राम को देखो। दीन-दुर्बलों की निराशा-भरी आँखों में उस प्यारे कृष्ण को देखो। किसी धूल भरे हीरे की कनी में उस सिरजनहार को देखो। जाओ, पतित, पददलित अछूत की छाया में उस लीला-बिहारी को देखो।' (श्री वियोगी हरि—'दीनबन्धु')

(५) आत्मव्यञ्जक निबन्ध :—उन निबन्धों को आत्म-व्यञ्जक निबन्ध की संज्ञा दी जाती है जिनमें लेखक अपने मन पर पड़े हुए

प्रभाव का ही अङ्कन करता है। इस प्रकार के निबन्धों में लेखक की अनुभूति और कल्पना का ही चित्रण रहता है। लेखक किसी प्रकार के बन्धन में बँधा न रहकर अपनी कल्पना के आधार पर जीवन की समीक्षा प्रस्तुत करता है। इस प्रकार के निबन्धों की शैली विनोदपूर्ण होती है। हिन्दी में ऐसे निबन्धों का श्रीगणेश श्री बालकृष्ण भट्ट तथा श्री प्रतापनारायण मिश्र ने किया है।

शैली और निबन्ध-साहित्य:—विभिन्न भावों को व्यक्त करने के लिये लेखक विभिन्न प्रकार का कलात्मक प्रयत्न करता है। लेखक का यह कलात्मक प्रयत्न ही उसकी शैली को जन्म देता है। शैली का अर्थ है 'पद्धति'। जिस पद्धति का अनुसरण करने से कृति अधिक आकर्षक और प्रभाव पूर्ण हो उठती है, उस पद्धति को ही शैली कहते हैं। शैली का अर्थ होता है—'भावों की अभिव्यक्ति की वह प्रणाली जो उस अभिव्यक्ति को अधिक प्रभावपूर्ण बना दे।' शैली, विषय-क्रम से बदलती रहती है। यदि साहस-पूर्ण इतिवृत्त का कथन करना होता है तो लेखक ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग कर अपनी शैली को ओजपूर्ण बनाता है। हास्यपूर्ण बात के कथन में शैली में विनोद की मात्रा भरनी पड़ती है। हर लेखक की शैली भी उसकी प्रतिभा, अभ्यास आदि के अन्तर के कारण भिन्न भिन्न हुआ करती है। अंग्रेजी में तो शैली को इतना महत्त्व दिया गया है कि उसे ही लेखक का व्यक्तित्व तक कह दिया गया है। 'Style is man' के द्वारा पाश्चात्य विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है कि शैली को देखकर लेखक को पहचाना जा सकता है।

निबन्ध के क्षेत्र में विभिन्न शैलियों का दर्शन होता है। इन शैलियों में से प्रमुख हैं:—

(१) समास शैली (२) व्यास शैली
(३) तरङ्ग शैली या विक्षेप शैली (४) धारा शैली

(१) समास शैली :—निबन्ध की उस शैली को समास शैली की संज्ञा मिलती है, जिसमें संक्षिप्तीकरण की प्रवृत्ति अधिक रहती है। विचार को विस्तार न देकर जब उसे संक्षेप में व्यक्त करने की ओर लेखक प्रवृत्त होता है, तब 'समास-शैली' का दर्शन होता है। विचारात्मक-निबन्धों में इस शैली का व्यवहार अधिक किया जाता है। आचार्य शुक्ल के निबन्ध मुख्यतः इसी शैली में लिखे गये हैं:—

'सभ्यता की वर्तमान स्थिति में एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से वैसा भय तो नहीं रहा जैसा पहले रहा करता था, पर एक जाति को दूसरी जाति से, एक देश को दूसरे देश से, भय के स्थायी कारण प्रतिष्ठित हो गये हैं। इस सार्वभौम वणिक वृत्ति से उतना अनर्थ कभी न होता यदि क्षात्रवृत्ति उसके लक्ष्य से अपना लक्ष्य अलग रखती; पर इस युग में दोनों का विलक्षण सहयोग हो गया है। वर्तमान अर्थोन्माद को शासन के भीतर रखने के लिये क्षात्रधर्म के उच्च और पवित्र आदर्श को लेकर क्षात्रसंघ की प्रतिष्ठा आवश्यक है।'

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'भय')

(२) व्यास शैली :—समास-शैली के विपरीत 'व्यास-शैली' में विस्तार की अधिक प्रवृत्ति रहती है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों में इस शैली का ही मुख्यतः प्रयोग होता है। विचारात्मक निबन्धों में भी इसका प्रयोग किया जाता है। बाबू श्यामसुन्दर दास जी के निबन्धों में इस शैली का ही प्रयोग मिलता है:—

'पृथ्वीराज रासो' में युद्धों की प्रधानता के साथ शृंगार की प्रचुरता भी की गई है। वीरों को युद्ध के उपरान्त विश्राम-काल में मन बहलाव

के लिए प्रेम करने की आवश्यकता होती है, और काव्यों में भी रसराज श्रृंगार के बिना काम नहीं चल सकता। इसी विचार से अन्य देशों में ऐसे वीर काव्यों में युद्ध और प्रेम की परम्परा प्रतिष्ठित हुई थी। पृथ्वीराज रासो आदि वीर काव्यों में बीच-बीच में श्रृंगार की आयोजना की गई है और वीरों में आमोद-काल में श्रृंगार-मूर्तिमयी रमणियों का उपयोग किया गया है।

(श्री श्यामसुन्दर दास—'वीरगाथा काल का प्रबन्ध-काव्य')

(३) विक्षेप या तरंग-शैली:—समुद्र में जैसे तरंग उठती और शमित होती रहती है वैसे ही जब निबन्धों में भी कुछ अन्तर से भावुकता प्रबल हो उठा करती है तब 'तरंग-शैली' मानना चाहिये। विचार व्यक्त करते करते जब लेखक भावुक हो उठे और उसके मन में भाव की तरंगें छलक कर कुछ देर के लिए लेखनी के द्वारा उसके निबन्धों में तरलित हो उठें, तब तरंग-शैली प्रतिष्ठित होती है। भावात्मक निबन्धों में इस शैली का विशेष प्रयोग होता है। डा० रघुबीर सिंह का 'शेष-स्मृतियाँ' और श्री माखनलाल चतुर्वेदी का 'साहित्य-देवता' इसी शैली में लिखा गया निबन्ध है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस शैली के सम्बन्ध में कहा है[1]:—'यह भावाकुलता की उखड़ी-पुखड़ी शैली है। इसमें भावना लगातार एक ही भूमि पर सम गति से नही चलती रहती; कभी इस वस्तु को, कभी उस वस्तु को पकड़कर उठा करती है। इस उठान को व्यक्त करने के लिये भाषा का चढ़ाव-उतार अपेक्षित होता है। हृदय कहीं वेग से उमड़ उठता है, कहीं वेग को न सँभाल सकने के कारण शिथिल पड़ जाता है, कहीं एक बारगी स्तब्ध हो जाता है। ये सब बातें भाषा में झलकनी चाहिए।'

---

१. शेष-स्मृतियाँ:—प्रस्तावना भाग।

'वैभव से विहीन सीकरी के वे सुन्दर आश्चर्यजनक खण्डहर मनुष्य की विलास-वासना और वैभव-लिप्सा को देखकर आज भी बीभत्स अट्टहास करते हैं। अपनी दशा को देखकर सुध आती है उन्हें उन करोड़ों मनुष्यों की, जिनका हृदय, जिनकी भावनाएँ, शासकों, तथा विलासियों की कामनाएँ पूर्ण करने के लिये निर्दयता के साथ कुचली गई थीं। आज भी उन भव्य खण्डहरों में उन पीड़ितों का रुदन सुनाई देता है। अपने गौरवपूर्ण भूतकाल को यादकर वे निर्जीव पत्थर भी रो पड़ते हैं। अपने उस बाल-वैधव्य को स्मरण कर, वह परित्यक्ता नगरी उसासें भरती है। विलास-वासना, अतृप्त कामना तथा राजमद के विष की बुझाई हुई ये उसासें इतनी विषैली हैं कि उसको सहन करना कठिन है। इन्हीं आहों की गरमी तथा विष से मुगल साम्राज्य भस्मीभूत हो गया। अपनी दुर्दशा पर ढलके हुये आँसुओं के उस तप्त-प्रवाह में रहे-सहे भस्मावशेष भी बह गए। (डा० रघुबीर सिंह 'शेष-स्मृतियाँ पृ० ७५)

(४) धारा-शैली:—जब भावना एक-रूप उमड़ती हुई पूरे निबन्ध में दिखायी पड़े, उसमें कहीं भी गतिरोध न हो तो धारा-शैली' की प्रतिष्ठा माननी चाहिए। इसमें जिस भावावेश में निबन्ध का आरम्भ होता है, वह लगातार एक ही भूमि पर समगति से चलता चला जाता है। उसके समगति को व्यक्त करने के लिये भाषा को भी समगति से ही प्रभाव स्थापित करना पड़ता है। हृदय पूरे निबन्ध के पाठ में वेग से उमड़ता रहता है। भाषा, हृदय के इस वेग को स्पष्ट करती रहती है।

श्री वियोगी हरि के भावात्मक निबन्धों में 'धारा शैली' का सुन्दर उदाहरण मिलता है। सरदार पूर्ण सिंह और रायकृष्ण दास ने भी इस शैली में निबन्ध लिखे हैं।

'किसानों और मजदूरों की टूटी-फूटी झोपड़ियों में ही प्यारा गोपाल

वंशी बजाता मिलेगा। वहाँ जाओ और उसकी मोहनी छबि निरखो। जेठ-वैशाख की कड़ी धूप में मजदूर के पसीने की टपकती हुई बूँदों में उस प्यारे राम को देखो। दीन-दुर्बलों की निराशा भरी आँखों में उस प्यारे कृष्ण को देखो। किसी धूल भरे ही कनी में उस सिरजनहार को देखो। जाओ, पतित, पददलित अछूत की छाया में उस लीला-बिहारी को देखो।

(श्री वियोगी हरिः 'दीनबन्धु')

अँगरेजी साहित्य में निबन्धः—फ्राँसीसी विद्वान् 'माँटेन' ने 'निबन्ध' को जन्म दिया। एक निर्जन स्थान में बैठकर उन्होंने अपने सम्बन्ध में कुछ लिखा और उस लिखे हुए भाग को 'Essais' नाम से प्रकाशित करवाया। साहित्यिक प्रयोग के रूप में Essay या निबन्ध का आरम्भ इसी रचना से माना जाता है। 'माँटेन' के पश्चात् अंग्रेजी साहित्य का सुप्रसिद्ध निबन्धकार 'बैकन' अपने निबन्धों के माध्यम से साहित्य में प्रतिष्ठित हुआ। 'बैकन' के पश्चात् ड्राइडेन, एडिसन, रिचर्ड स्टील, जानसन, गोल्ड-स्मिथ, चार्ल्स लैम्ब, हैजलिट, वाशिंगटन आयर्विङ्ग आदि ने भी अंग्रेजी निबन्ध साहित्य को समृद्ध बनाया। चेस्टर्टन, जेम्स एग्रेट, मारिस हेवलेट आदि निबन्धकारों ने निबन्ध की व्यञ्जना-शैली को विशेष रूप से सुधारा है।

हिन्दी-निबन्ध का विकासः—संस्कृत साहित्य में निबन्ध, आज के निबन्ध के रूप में प्रचलित नहीं था। वर्तमान ढङ्ग के निबन्धों का श्रीगणेश आधुनिक युग में हुआ। भारतेन्दु-युग में ही आधुनिक निबन्धों का आविर्भाव मानना चाहिये। निबन्धों के विकास को हम तीन भाग में बाँट सकते हैं:—

(१) भारतेन्दु युगीन निबन्ध

(२) द्विवेदी युगीन निबन्ध

(३) शुक्ल और परवर्ती निबन्ध

भारतेन्दु युग :—गद्य का आरम्भिक काल होने के कारण भारतेन्दु युग में व्याकरण के नियमों का पालन नहीं हो सका। मनोरंजन, समाज सुधार और राजनीतिक विचार के लिये विशेष रूप से निबन्ध लिखे गये। भाषा में आलंकारिकता, पण्डिताऊपन, मुहावरेदानी और व्यङ्ग का पुट था। इस काल के प्रमुख लेखक थेः— राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द', राजा लक्ष्मण सिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बद्रीनारायण चौधरी (प्रेमघन) पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० बालमकुन्द गुप्त आदि।

द्विवेदी युग :—इस युग के प्रवर्तक श्री महाबीरप्रसाद द्विवेदी माने जाते हैं। उनके निर्देश से हिन्दी का निबन्ध-साहित्य सुधर और सँवर रहा था। भाषा की त्रुटियाँ दूर हो गयी थीं और विषय तथा प्रतिपादन-शैली दोनों में ही गम्भीरता लक्षित होने लगी थी। इस युग में गवेषणात्मक व आलोचनात्मक निबन्धों की रचना भी आरम्भ हुई। इस युग के प्रमुख लेखक थेः—पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० माधवप्रसाद मिश्र, बा० ब्रजनन्दन सहाय, पं० पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह आदि। इसी युग के लेखकों में बाबू श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी आते हैं किन्तु द्विवेदी जी की शैली के प्रभाव से ये लेखक मुक्त थे, अतः इन्हें उस युग का लेखक नहीं माना जाता।

शुक्ल युग :—शुक्ल जी ने निबन्ध के क्षेत्र में विश्लेषण को विशेष महत्त्व दिया। उनके निबन्धों में भाव की गहराई थी। निबन्ध क्षेत्र में उनके प्रवेश से एक नये युग का आरम्भ हुआ। चिन्तामणि भाग १ और भाग २ ने निबन्ध के क्षेत्र में एक नये प्रकार की भूमि

दी। शुक्ल जी के पश्चात् जिन निबन्धकारों को विशेष ख्याति मिली वे हैं:—उपाध्याय हरिश्चन्द्र शर्मा, श्री गुलाबराय श्री जयशङ्करप्रसाद, श्री जैनेन्द्र, श्री नगेन्द्र, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री पदुमलाल पुन्नाल बख्शी, श्री प्रभाकर माचवे, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', श्री विनयमोहन शर्मा, श्री भगवतशरण उपाध्याय, श्री माखनलाल चतुर्वेदी, डा० रघुवीर सिंह, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री सत्येन्द्र, श्री सम्पूर्णानन्द, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि। इन निबन्धकारों में अधिकांश ने आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। श्री 'उग्र' ने व्यंग को उभारा है। श्री भगवतशरण उपाध्याय तथा श्री सम्पूर्णानन्द जी ने सांस्कृतिक निबन्ध लिखे हैं और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने व्यक्ति व्यञ्जक तथा निर्बन्ध शैली के निबन्धों का प्रणयन किया है। पं० हजारीप्रसाद जी के निबंन्ध 'बेलेस-लेटर' का सुन्दर परिचय देते हैं।

शैली में वैयक्तिकता की छाप देने वाले लेखकों में श्री सियाराम शरण गुप्त और सुश्री महादेवी वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। हास्यपूर्ण निबन्ध लेखकों में श्री अन्नपूर्णानन्द, श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी' आदि को विशेष ख्याति मिली है।

—०○※○०—

१०. आलोचना

आलोचना और आलोचक:—'आलोचना' शब्द 'समीक्षा' का पर्यायवाची है। ये दोनों ही शब्द अँग्रेजी के (Criticism) शब्द के समानार्थी हैं। 'आलोचना' का अर्थ होता है भली प्रकार से चारों ओर देखना। 'समीक्षा' का भी यही अर्थ होता है। आलोचना या समीक्षा करते समय आलोच्य को भली प्रकार से देखा जाता है और उस पर विचार दिया जाता है। आलोचक अपनी पैनी दृष्टि से आलोच्य के गुण-दोष को देखता और उसकी परीक्षा करता है। वह खुली दृष्टि से आलोच्य के सौन्दर्य को देखता है और उसमें निहित गूढ़तम भावों का पता लगाता है। पूर्वकाल से ही आलोचक का कर्तव्य कवि और काव्य के गुण-दोष की परीक्षा करना रहा है। काव्य की उपादेयता और अनुपादेयता के सम्बन्ध में निष्पक्ष भाव से निर्णय देने वाला ही समीक्षक माना जाता है और उसका यह निर्णय ही समीक्षा है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने 'ध्वन्यालोकलोचन' में लिखा है:—

'यत्किंचिद्प्यनुरणं स्फुटयामि काव्यालोकं स्वलोचननियोजनया जनस्य'।

अर्थात् मैं जनसाधारण के लिये अपने लोचन, ज्ञान या मन के द्वारा न्यूनाधिक व्याख्या से काव्यालोक को स्पष्ट करता हूँ।

आलोचक पाठकों को आलोच्य का बोध कराता है। वह एक अध्यापक के गुण से सम्पन्न होता है और अपनी व्युत्पत्ति एवं विश्लेषण से पाठक को 'आलोच्य' का ज्ञान प्राप्त कराता है। उसे एक दुभाषिये

की संज्ञा दी जा सकती है। जैसे दुभाषिया मूल व्याख्यान का रूपांतर कर उसे स्पष्ट कराता है, ठीक उसी प्रकार आलोचक भी आलोच्य कृति की समीक्षा और टीका उपस्थित कर, उससे जन-सामान्य को परिचित कराता है। समीक्षक के इस कर्तव्य को स्वीकार करने के बाद यह कहा जा सकता है कि 'समीक्षा वह रचना है, जिससे पाठक को आलोच्य कृति के समझने में सहायता मिलती है।'

पूर्वकाल में समीक्षक, टीका, व्याख्या तथा उत्कर्षापकर्ष विधान का दिग्दर्शन कराने में ही अपने कर्तव्य की इति श्री समझता था। गुण-दोष विवेचन ही उसके लिये पर्याप्त था, किन्तु वर्तमान समय में समीक्षा के अन्तर्गत समीक्षक के लिये आलोच्य और ग्रन्थकार की जाति का निर्णय करना, गुण-दोष की मात्रा दिखलाने की अपेक्षा अधिक आवश्यक हो गया है। इसी अन्तर के कारण समीक्षा की पद्धति अब बदल सी गयी है। पूर्व-काल में सिद्धान्त और लक्षण की कसौटी पर ही समीक्षा की जाती थी, किन्तु वर्तमान समय में कृतिकार पर पड़े हुये ऐतिहासिक, सामाजिक प्रभावों पर भी ध्यान रखना पड़ता है।

आलोचना के प्रकार :—

(१) सैद्धान्तिक समीक्षा (निर्णयात्मक समीक्षा)।
(२) व्याख्यात्मक समीक्षा।
(३) प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा।
(४) ऐतिहासिक समीक्षा।
(५) वादोन्मुखी समीक्षा :—(i) प्रगतिवादी समीक्षा।
(ii) मनोविश्लेषणवादी समीक्षा।

निर्णयात्मक या सैद्धान्तिक समीक्षा :—उस समीक्षा को सैद्धान्तिक समीक्षा कहते हैं जिसमें लक्षण-ग्रन्थों को आधार मानकर विभिन्न

लक्षणों की कसौटी पर कृति की परीक्षा की जाती है। इस प्रकार की समीक्षा में समीक्षक निर्धारित लक्षण के आधार पर कृति पर निर्णय देता है। लक्षण कृति के आधार पर ही बनते हैं। इसलिये केवल लक्षणों की कसौटी पर ही कृति के गुण-दोष पर निर्णय दे देना उचित नहीं होता। निर्णयात्मक समीक्षा कृति की अपेक्षा लक्षणों को विशेष महत्व देती है, इसलिये पूर्णतः ग्राह्य नहीं हो सकती।

व्याख्यात्मक समीक्षा :—व्याख्यात्मक समीक्षा वह समीक्षा है जिसमें आलोच्य को उसकी परिस्थिति के बीच रखकर देखते हैं और उसकी उपादेयता समाज के लिये निश्चित करते हैं। व्याख्यात्मक समीक्षा को प्रस्तुत करने वाला समीक्षक आलोच्य और उसकी परिस्थिति पर विचार करता है तथा उस पर पड़े हुये विभिन्न प्रभावों को स्वीकार करते हुये उस पर अपना विचार देता है। वह सहृदयता पूर्वक आलोच्य कृति को समझाने का प्रयत्न करता है। व्याख्यात्मक और निर्णयात्मक समीक्षा को मिलाकर यदि कृति की परीक्षा की जावे तो वह परीक्षा अत्यन्त उच्चकोटि की होगी।

प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा :—जब समीक्षक सिद्धान्त पर ध्यान न देकर भावुकतापूर्ण पद्धति पर आलोच्यकृति के उन अंशों को प्रकाशित करने में लग जाता है जिनका उसके हृदय पर प्रभाव पड़ा रहता है तब प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा सामने आती है। इस प्रकार की समीक्षा में सिद्धान्त नहीं, रुचि को ही विशेष महत्त्व मिलता है। इस प्रकार की समीक्षा में समीक्षक अपने मन पर पड़े हुये भावों को ही स्पष्ट करता है। इसमें आलोच्य की समीक्षा की अपेक्षा समीक्षक के व्यक्तित्व का उद्‌घाटन ही अधिक होता है। अतः इस प्रकार की समीक्षा समीक्षा के नाम पर एक विकृति है। विद्वानों ने इसकी भर्त्सना की है।

ऐतिहासिक समीक्षा :—फ्रांसीसी आलोचक 'टेन' ने ऐतिहासिक-समीक्षा पद्धति का आरम्भ किया। इस प्रकार की समीक्षा में कृति या कृतिकार को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि में रखकर जाँचा जाता है। आधुनिक चित्तवृत्ति सभी कार्यों को एक निश्चित विकास-परम्परा से विकसित मानती है। इसी के परिणाम-स्वरूप इतिहास के ज्ञान की सहायता से कृति के विषय, कृतिकार की परिस्थिति तथा उसके पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती विचारों का अध्ययन किया जाने लगा है। ऐतिहासिक समीक्षक कवियों और लेखकों को वर्ग में बाँटता है। वह परिस्थितियों के बीच उन्हें रखकर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

वादोन्मुखी (!) प्रगतिवादी समीक्षा :—मार्क्सवाद के प्रभाववश ही प्रगतिवादी आलोचना पद्धति को स्वीकृति मिली। इस प्रकार की समीक्षा प्रस्तुत करने वाले समीक्षक कृति के निर्माण काल की सामाजिक वास्तविकता और उससे कृति का सम्बन्ध निरूपित करते हैं। वे कृति का तत्कालीन समाज पर प्रभाव देखते हैं और उस आलोच्य-कृति पर अपना निर्णय देते हैं। प्रगतिवादी या 'समाजशास्त्री' समीक्षक यह मानता है कि युग-विशेष एवं समाज-विशेष का साहित्य अनिवार्यरूप में अपने देश-काल की वास्तविकताओं को प्रतिफलित करता है। वह मानता है कि श्रेष्ठ साहित्य युग-जीवन के तत्त्वों से ग्रथित होता है और उसमें युग-जीवन की दिशा का निर्देश करने तथा युग-जीवन को बदलने की शक्ति होती है। इस प्रकार का समीक्षक लेखक से यह माँग रखता है कि वह जनता अथवा उसकी मनोवृत्ति को एक विशेष ढंग से बदलने की प्रेरणा दे, उन्हें एक विशिष्ट परिभाषा के अनुसार प्रगतिशील बनावे। इस समीक्षा पद्धति में विभिन्न गुणों के होते हुए भी कुछ दोष हैं। इस श्रेणी का आलोचक स्थूल सामाजिक रूपों पर ही विशेष ध्यान देता है, जीवन के सूक्ष्म स्पन्दनों पर उसकी दृष्टि नहीं जाती। वह

कल्पनागत सौन्दर्य को भुलाकर केवल 'यथार्थ' की परीक्षा में लगा रह जाता है।

(२) मनोविश्लेषणवादी समीक्षा :—फ्रायड, एडलर और युङ्ग ने रचयिता के वैयक्तिक मनोविज्ञान पर विचार किया है। उन्होंने साहित्य का आधार अंतश्चेतना को माना है। फ्रायडके अनुसार काव्य उपचेतना में दबे हुए काम-वासना के विकास का एक मार्ग है। 'एडलर' के अनुसार हीनभाव से प्रेरित क्षतिपूर्ति के भाव से साहित्य-कार साहित्य का निर्माण करता है। युंग ने इन दोनों मतों का समाहार किया है। आलोचना के क्षेत्र में मनोविश्लेषणवाद का प्रमुख स्थान है। इस प्रकार की आलोचना का कर्ता कवि की वैयक्तिक रुचि और परि-स्थितियों पर विचार कर आलोच्य कृति की आलोचना प्रस्तुत करता है।

आलोचना का विकास :—हिन्दी साहित्य में आलोचना का श्री गणेश 'प्रेमघन' तथा पं० बालकृष्ण भट्ट की आलोचना से हुआ। इनकी आलोचना गुण-दोष के विवेचन तक ही सीमित रही। सैद्धान्तिक पद्धति पर ही श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी आलोचनायें कीं। पाश्चात्य समीक्षा का अध्ययन कर श्री श्यामसुन्दर दास ने 'साहित्यालोचन' की रचना की। इस कृति ने समीक्षा पद्धति को नयी मोड़ दी। उसमें पाश्चात्य प्रभाव भी लक्षित होने लगा। इस समय लाला भगवान दीन, मिश्रबन्धु, पद्मसिंह शर्मा आदि तुलनात्मक एवं सैद्धान्तिक समीक्षा लिख रहे थे। 'बिहारी' और 'देव' को लेकर विवाद चल रहा था। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने समीक्षा को एक नयी दिशा दी। उन्होंने लोक-मंगल की भावना को कसौटी बनाकर, कृतिकार के विचारों के आधार पर समीक्षा प्रस्तुत करना ठीक समझा। इस प्रकार विवेचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक समीक्षायें की जाने लगीं।

विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में 'हिन्दी' का समावेश होने पर "छात्रोपयोगी' समीक्षायें लिखी जाने लगीं। इन्हें विशुद्ध 'आलोचना' की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता, किन्तु आलोचना की ओर बढ़ने की रुचि जगाने में इनका योग सराहनीय है। इस प्रकार की छात्रोपयोगी समीक्षायें प्रस्तुत करने वालों में श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, श्री प्रेमनारायण टंडन, श्री रामरतन भटनागर आदि का नाम उल्लेखनीय है।

समीक्षा-लेखकों ने साहित्य का इतिहास और उसकी प्रवृत्तियों की समीक्षा भी आरम्भ की। इतिहास प्रस्तुत करने वाले समीक्षकों में श्री रामचन्द्र शुक्ल, श्री कृष्ण शंकर शुक्ल, श्री केशरी नारायण शुक्ल, श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा, श्री परशुराम चतुर्वेदी, श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, श्री रामकुमार वर्मा, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि प्रमुख हैं।

समीक्षा के इस प्रगति के साथ ही समीक्षकों ने साहित्य के सिद्धान्तों पर भी विचार आरम्भ किया और सिद्धान्तों तथा लक्षणों के आधार पर कृतियों पर निर्णय देने की ओर भी वे प्रयत्नशील हुये। सिद्धान्तों और लक्षणों पर विचार करने वाले समीक्षकों को सैद्धान्तिक समीक्षक कहते हैं। इस प्रकार के प्रमुख समीक्षक हैं:—श्री रामचन्द्र शुक्ल, श्री गुलाबराय, श्री बलदेव उपाध्याय, श्री रामदहिन मिश्र, श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु, श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्री सीताराम चतुर्वेदी आदि।

अलोच्य को उसकी परिस्थिति के बीच देखकर उस पर सहानुभूति पूर्ण ढङ्ग से विचार करना ही व्याख्यात्मक समीक्षा का विषय है। इस प्रकार की वाद-निरपेक्ष समीक्षा प्रस्तुत करने वाले समीक्षकों में प्रमुख हैं:—सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रबली पांडे, जगन्नाथ

प्रसाद शर्मा, नन्ददुलारे बाजपेयी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, डा० रघुवंश, रामकुमार वर्मा, ललिताप्रसाद शुकुल, सत्येन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि।

आलोचना के क्षेत्र में मार्क्सवाद का प्रभाव भी लक्षित हुआ है। आलोच्य को आर्थिक और सामाजिक प्रभाव के बीच देखने वाले इन समीक्षकों का निर्णय 'वाद' के माध्यम से प्रकाशित होता है। वे अपने मत से सहमत कृतिकार को प्रगतिशील और उससे विरोधग्रस्त विचारक को पलायनवादी कहते हैं। इस प्रकार के प्रगतिवादी समीक्षकों में श्री अमृतराय, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, श्री भगवतशरण उपाध्याय, श्री रामविलास शर्मा, श्री शिवदान सिंह चौहान आदि सुख्यात हैं।

मनोविश्लेषण ने आज साहित्य को एक नये ढङ्ग से प्रेरित किया है। आज सभी विधाओं में लेखक का झुकाव मनोविश्लेषण की ओर दिखाई पड़ता है। आज का आलोचक भी मनोविश्लेषणवादी हो उठा है। लेखक की व्यक्तिगत परिस्थितियों, अंतश्चेतन के भावों को पढ़कर उसकी कृति की समीक्षा करना आज के आलोचक को अभीष्ट है। ऐसे मनोविश्लेषणवादी आलोचकों में श्री 'अज्ञेय', श्री इलाचन्द्र जोशी, डा० नगेन्द्र आदि को विशेष ख्याति मिली है।

भाषा के सम्बन्ध में व्याख्या प्रस्तुत करने वाले तथा विश्लेषण करने वाले समीक्षक भाषा-वैज्ञानिक समीक्षक की संज्ञा प्राप्त करते हैं। इस क्षेत्रमें डा० बाबूराम सक्सेना और डा० धीरेन्द्र वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। सरल ढङ्ग से इन लोगों ने भाषा-विज्ञान जैसे जटिल विषय का विश्लेषण प्रस्तुत कर उसे बोधगम्य बनाया है। इस क्षेत्र में जिन लोगों की समीक्षायें देखने को मिली हैं वे हैं:—श्री उदय-नारायण तिवारी, श्री धीरेन्द्र वर्मा, श्री बाबूराम सक्सेना, श्री भोला-

नाथ तिवारी, श्री मोतीलाल मीनारिया, श्री मङ्गलदेव शास्त्री, श्री रामाज्ञा द्विवेदी, श्री श्याम परमार, श्री सुभद्र झा आदि।

हिन्दी साहित्य में कुछ आलोचनायें कवियों की स्वतःभूमिका रूप में भी आई है। 'आधुनिक कवि' की भूमिका में व्यक्त सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी आदि के विचार इसी कोटि में स्थान पाते हैं। 'चक्रवाल' की भूमिका के रूप में 'दिनकर' जी द्वारा दी गयी समीक्षा भी महत्त्वपूर्ण है।

आलोचना के विकास को देखकर यह कहा जा सकता है कि आलोचना का साहित्य उत्तरोत्तर प्रौढ़ होता जा रहा है। आरम्भ में टीका और गुण-दोष-विवेचन से जो आलोचना चली उसका विकास होता गया और आज आलोचना के क्षेत्र में साहित्यिक, ऐतिहासिक और वादोन्मुखी प्रवृत्तियाँ लक्षित होने लगीं हैं। इस परिवर्तन को देखकर यह कहा जा सकता है कि आलोचना का भविष्य मंगलमय है।

११. प्रकीर्णक

जीवन-चरित्र:—'जीवन-चरित्र' साहित्य की वह विधा है जिसमें लेखक चरित्र-नायक के उन सभी गुणों का क्रम से कथन करता है जिनका प्रभाव उसके जीवन पर पड़ा रहता है। जीवन-चरित्र का लेखक उन घटनाओं को भी क्रम से बतलाता है जो चरित्र-नायक के जीवन में घटी रहती हैं। इतिहासकार की तरह जीवन-चरित्र का लेखक सत्य का आधार लेकर नायक के जीवन में घटित होने वाली सभी घटनाओं का कथन करता है, किन्तु उसकी शैली इतिहासकार की रूखी शैली से भिन्न साहित्यकार की सरस शैली होती है। इतिहासकार समाज की बात कहता है और चरित्र-लेखक अपने चरित्र-नायक की। वह उपन्यासकार से भी भिन्न होता है। उपन्यासकार सम्भावित सत्य को अपनी कल्पना के माध्यम से उभाड़कर सामने रखता है, किन्तु जीवनीलेखक वास्तविक सत्य का ही कथन करता है।

चरित्र-लेखक के कर्तव्य:—(१) चरित्र-लेखक को निष्पक्ष होना चाहिये। वह चरित्र-नायक के गुण और दोष को निष्पक्ष भाव से सामने रखता है। नायक के गुण या दोष को अनावश्यक रूप में बढ़ाकर सामने रखना लेखक का दोष माना जाता है। अतः चरित्र-लेखक को इस दोष से बचना चाहिये।

(२) नायक के जीवन पर जिन घटनाओं का जितना प्रभाव हो उन्हें उतने ही अंश में महत्त्व देना चाहिये। किसी घटना को व्यर्थ का विस्तार या अप्रत्याशित सङ्कोच नहीं मिलना चाहिये।

(३) शैली आकर्षक होनी चाहिये। सुन्दर शैली के अभाव में 'चरित्र' का पाठ, पाठक के लिए कठिन हो जाता है। अतः चरित्र-लेखक को सुरुचिपूर्ण शैली का आश्रय लेना चाहिये।

जीवनचरित्र और आत्मकथा :—जीवनचरित्र और आत्मकथा में भारी अन्तर है। जीवन-चरित्र में लेखक चरित्र-नायक की जीवन-गाथा का कथन करता है किन्तु आत्मकथा में चरित्र-नायक को स्वयं अपने जीवन के सम्बन्ध में कहना पड़ता है। 'आत्मकथा' लिखना सबके वश की बात नहीं होती। अपनी कमजोरियों को सबके सामने रखने की क्षमता रखने वाला ही 'आत्मकथा' लिख सकता है। 'आत्मकथा' का लेखक अपने बारे में अधिक जानता है इसलिए वह अपने जीवन को अधिक स्पष्ट ढङ्ग से सामने रख सकता है। ऐसा करने के लिये उसे स्वयं से निर्लिप्त होना पड़ता है।

हिन्दी साहित्य में जीवन-चरित्र और आत्मकथा दोनों ही प्रकार की चरित्र-गाथायें लिखी गयी हैं। बाबू ब्रजरत्नदास कृत 'भारतेन्दु' श्री सीताराम चतुर्वेदी कृत 'महामना मालवीय' और श्री घनश्यामदास 'बिड़ला' कृत 'बापू' जीवन-चरित्र की सुन्दर पुस्तकें हैं। महात्मा गाँधी कृत 'आत्मकथा' और 'राजेन्द्रप्रसाद' जी कृत 'आत्मकथा' से आत्मकथा साहित्य का सुन्दर परिचय मिलता है।

पत्र-लेखन :—समाज के सभी प्राणी पत्र-लेखन की क्रिया से परिचित हैं। व्यवहार, व्यापार और साहित्य सब में ही पत्र-लेखन की क्रिया चल रही है। पत्र तो सभी लिखते हैं किन्तु पत्र-लेखन सबको नहीं आता। पत्र लिखने की भी एक कला है। व्यक्ति के द्वारा लिखे गये पत्र से उसके जीवन को समझना पारखियों के लिये कठिन नहीं होता। पत्र में मानव की सभी स्थितियाँ स्पष्ट

हो उठा करती हैं। पत्रों से ही दूर देश में बैठा हुआ मानव अपने दूरस्थ साथी से वार्ता करता है, उसकी कुशल-क्षेम प्राप्त करता है और उससे अपने सम्बन्ध को बनाये रखता है। विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों के लिए विभिन्न प्रकार के पत्र लिखे जाते हैं। पिता के लिये 'पूज्य', मित्र के लिये 'प्रियवर' और पत्नी के लिये 'श्रद्धामयी' आदि सम्बोधनों का विधान है। घरेलू-पत्र में एक विशिष्ट प्रकार की आत्मीयता ध्वनित होती है। व्यापारिक पत्रों में व्यापार की शर्तों की ध्वनि रहती है। साहित्यिक पत्रों में रागात्मक-उद्वेलन रहता है। पत्रों को लिखते समय कागज के ऊपरी भाग पर एक कोने में अपना पता और पत्र लिखने की तिथि का अङ्कन करना चाहिये, उसके पश्चात् सम्बोधन होना चाहिये, और तब पत्र का विषय व्यक्त करना चाहिये। पत्र के निम्न भाग में अपना नाम दे देना चाहिये। पत्र को लिफाफे में रखकर पता लिखना चाहिये और एक कोने पर प्रेषक का (अपना) पता भी संक्षेप में दे देना चाहिये।

हिन्दी में पत्र साहित्य:—हिन्दी में पत्र साहित्य का प्रकाशन बहुत अल्प मात्रा में हुआ है। महात्मा गाँधी के पत्र, जवाहरलाल नेहरू के अनूदित पत्र, श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी के पत्र, 'जैनेन्द्र जी के विचार' में सङ्कलित जैनेन्द्र जी के कुछ पत्र, अब तक प्रकाश में आये हैं। श्री पद्मसिंह शर्मा के पत्रों का तथा श्री माखनलाल चतुर्वेदी के पत्रों का संग्रह अभी अप्रकाशित है। उनके प्रकाशन के बाद लोग पत्र-साहित्य की साहित्यिकता से विशेष रूप से परिचित हो सकेंगे।

डायरी:—डायरी और पत्र में बहुत थोड़ा सा अन्तर है। पत्र में ऊपरी भाग पर लेखक अपना पता और तिथि लिखता है और नीचे अपना हस्ताक्षर करता है। डायरी में केवल तिथि दी जाती है।

पत्र में सम्बोधन आवश्यक होता है किन्तु डायरी में उसकी आवश्यकता नहीं रहती। पत्र की तरह डायरी में हस्ताक्षर की भी आवश्यकता नहीं रहती। पत्र-लेखक जिसे पत्र लिखता है उसकी भावना का भी कुछ हद तक ध्यान रखता है, किन्तु डायरी-लेखक अपने ही भावों को डायरी में लिखता है। वह इस दृष्टि से भाव की अभिव्यक्ति में पत्र-लेखक से अधिक स्वच्छन्द रहता है। डायरी-पद्धति पर कुछ कहानियाँ भी लिखी गयी हैं। विशुद्ध डायरी का हिन्दी-साहित्य में सर्वथा अभाव है।

गद्यकाव्य:—गद्य की उस विधा को गद्य-काव्य की संज्ञा दी गयी है जिसमें भावना का प्राधान्य रहता है। यह भावना बिखरी हुई न होकर किसी एक विशिष्ट भाव पर केन्द्रित होने के कारण अन्विति की गहराई से समन्वित होती है। गद्य-काव्य का लेखक एक निश्चित ध्येय को लेकर एक निश्चित भाव का भावात्मक पद्धति पर कथन करता है। भावात्मक निबन्ध और गद्यकाव्य का मुख्य अन्तर यही है कि भावात्मक निबन्ध का विषय बिखरा हुआ रहता है, उसमें उतनी अन्विति नहीं रहती जितनी केन्द्रगत भावों को अभिव्यक्त करने वाले गद्यकाव्य में रहा करती है।

गद्य-काव्य गद्य में लिखा जाता है किन्तु उसमें रमाने वाली वृत्ति और रागात्मक स्थिति की गहराई का सन्निवेश भी रहता है। इसीलिये गद्य के इस अंश को पढ़ने पर मुक्तक-प्रगीत का सा आनन्द मिलता है। उसमें अलंकार आदि का भी विधान रहता है।

गद्यकाव्य का मूल वेदों और उपनिषदों में देखा जाता है किन्तु हिन्दी में गद्य-काव्य की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति तब जगी, जब कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'गीतांजलि' लिखकर यह सिद्ध कर दिया कि गद्य में भी पद्य सा प्रवाह और रस उत्पन्न किया जा सकता है। रवि बाबू के प्रभाव से

हिन्दी में गद्य-काव्य का लेखन आरम्भ हुआ। विभिन्न लेखकों ने इस ओर प्रयास किये किन्तु इस क्षेत्र में जिन लोगों को विशेष ख्याति मिली है वे हैं:—श्री रायकृष्ण दास, श्री वियोगी हरि, श्री दिनेशनन्दिनी डालमिया आदि। इनके अतिरिक्त श्री चतुरसेन शास्त्री कृत 'अन्तस्थल', श्री अज्ञेय कृत 'अग्रदूत' और 'चिन्ता' भी गद्य-काव्य के संग्रह रूप में सुख्यात है। गद्यकाव्य के क्षेत्र में जितना कार्य होना चाहिये अभी तक नहीं हो सका है। इस क्षेत्र में लेखकों को बढ़ना चाहिये। आशा है लेखकों का ध्यान इस विधा को समृद्ध बनाने की ओर आकृष्ट होगा।

रेखाचित्र:—रेखाचित्र, वर्णन प्रधान संस्मरण है। इन संस्मरणों के कथन में विषय को सत्य रूप में स्वीकार किया जाता है। उस विषय या पात्र के सम्बन्ध में कल्पनापूर्ण शैली में अपने भाव व्यक्त किये जाते हैं। रेखा-चित्र लिखने वाला वस्तु की रूपरेखा उभाड़ कर रख देता है और रंग भरने का दायित्व वह पाठक पर छोड़ देता है। वह वस्तु और व्यक्ति को अपने रेखा-चित्रों से मोहक बना देता है। उसका यह कार्य उसे चित्रकार के निकट लाकर बैठा देता है। रेखा-चित्र में चरित्र का उद्घाटन कहानी की तरह ही होता है, किन्तु कहानी के पात्र कल्पित होते हैं और रेखा-चित्र के वास्तविक।

हिन्दी साहित्य में 'रेखा-चित्रों' का भी लेखन अधिक मात्रा में नहीं हो सका है। इस क्षेत्र में जिन लोगों ने कार्य किया है वे हैं—श्री राम शर्मा, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, श्री बनारसी दास चतुर्वेदी, श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, सुश्री महादेवी वर्मा आदि। श्री राम शर्मा कृत 'बोलती प्रतिमा' प्रकाशचन्द्र गुप्त कृत 'नये स्केच' और महादेवी वर्मा कृत 'अतीत के चलचित्र' रेखा-चित्रों के अच्छे संग्रह हैं।